जारज

"मैं जारज हूं। संसार में मेरे लिये स्थान नहीं है।..."

समाज का अंग, किंतु फिर भी समाज द्वारा उपेक्षित! सामाजिक अन्यायों का प्रतीक, किंतु स्वयं ही लांछित, जैसे वह स्वयं अपराधी हो! दुर्गा को किसी के प्यार की अपेक्षा करने, स्वयं किसी को अपने अन्तर्मन के कोमलतम कोने में स्थान देने और यहां तक कि अपना जीवन जीने का भी अधिकार न मिला। और तब उसने समाज से विद्रोह किया, अपने जीवन से विरुद्ध विद्रोह किया।

"...मैं जानती हूं, आप भावुक हैं, जिद्दी हैं!...मैं फिर कहती हूं आप भावुक हैं, जिद्दी हैं। जिद्दी—हां यह शब्द सख्त है।—इसे मैंने क्यों इस्तेमाल किया? मैं नहीं जानती!...हां, मैं जानती हूं! कदाचित आप भी जानते हैं!...जिस किसी से आप प्यार जोड़ेंगे वह आपके ऊपर अधिकार अवश्य जमा लेगा।...यही अधिकार मुझे भी प्राप्त है।..."

पूर्णिमा ने अनजाने ही दुर्गा के प्यार में डूबना चाहा, उस पर वर्षा के प्रथम बादलों की पहली फुहार करनी चाही, किंतु वह उसे अपने रेशमी बंधन में बांध न सकी, उसे समाज की क्रूर दृष्टि से दूर न ले जा सकी।

'जारज' श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह का ऐसा मार्मिक सामाजिक उपन्यास है, जिसे पढ़ कर मन के समस्त तन्तु झनझना उठते हैं, जिसे एक बार पढ़ कर कोई बुद्धिजीवी कभी भुला नहीं सकता, और जिस की कथावस्तु द्वारा प्रस्तुत प्रश्न-चिन्ह की कोई उपेक्षा नहीं कर सकता।

जारज

प्रेमचन्द तथा सुदर्शन के समकालीन कथाकार राजेश्वर प्रसाद सिंह का प्रसिद्ध उपन्यास 'खेल' नये रूप-रंग में प्रस्तुत है। इस उपन्यास में पाठक को जहाँ आदर्श तथा यथार्थ के धरातल पर उच्च स्तर का कलात्मक मनोरंजन प्राप्त होगा, वहीं उसे चिरंतन सत्य के विविध रूपों का दर्शन भी होगा। 'जारज' में पाठक को मिलेंगी—अन्तर को झकझोर देने वाली भावनाओं की आँधियाँ और साथ ही जीवन की झलमलाती, विहँसती सौंदर्य-रश्मियाँ!

जारज

राजेश्वर प्रसाद सिंह

नीलाभ प्रकाशन

इलाहाबाद

● मूल्य : ४ रुपये २५ नये पैसे

● प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन
५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद

● मुद्रक : सरजू प्रसाद तिवारी
श्री विष्णु प्रिंटिंग वर्क्स, कटरा, इलाहाबाद

जाएजे

१

टन-टन टन-टन ! छुट्टी का घंटा बजने लगा। भास्कर हाई स्कूल से विद्यार्थी-गण इस तरह निकलने लगे, मानो जेल से कैदी भाग रहे हों। विनोद, परिहास, अतुलनीय आह्लाद आदि बाल-सुलभ विभूतियाँ, जो सारे दिन स्कूल के कमरों में बन्द थीं, स्वतन्त्रता की ओर वेग से दौड़ने लगीं।

चार लड़कों की एक टोली एडवर्ड पार्कवाले मार्ग से हिम्मतगंज की ओर रवाना हुई। उन बालकों में सब से बड़ा, दुर्गादत्त, अठारह वर्ष का था। उस गौरांग नवयुवक के शरीर पर गाढ़े का साफ़ कुरता था और मोटी, साफ धोती। सिर पर गाँधी टोपी और पैरों में लाल रंग के पंजाबी जूते थे। उसकी प्रकृति में भावुकता तथा सारल्य का सम्मिश्रण था। दूसरा बालक भोलानाथ सत्रह वर्ष का था। भोला के पहनावे से सम्पन्नता टपकती थी। यथार्थ तो यह है कि उसकी-सी पोशाक स्कूल में दो-एक लड़कों के अतिरिक्त किसी के पास न थी। उस लम्बे, साँवले बालक के स्वभाव में वह अहम्मन्यता तथा स्वेच्छाचारिता आ गई थी, जो सम्पन्नता और मा-बाप के अत्यधिक लाड़-प्यार से बालकों में अंकुरित हो जाती है।

शेष दोनों बालक, रामनाथ और बेचूलाल, सोलह-सत्रह वर्ष के थे, और उनमें उस असाधारणता की कमी थी, जिसके द्वारा ही व्यक्तित्व में में विशेषता आती है। ये सब उपर्युक्त पाठशाला की एन्ट्रेंस कक्षा के विद्यार्थी थे।

उस समय आकाश में श्रावण की घटाएँ इस तरह उमड़ रही थीं, मानों यौवनोत्फुल्ल हृदय में उमंगें उठ रही हों। जिस ओर देखिये, हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देती थी। पार्क में इधर-उधर खड़े हुये वृक्ष, उनसे लिपटी हुई लताएँ, इधर-उधर फैले हुये फूलों के नन्हें-नन्हें पौधे, सब धानी रंग की पोशाक पहने हुए थे। जमीन पर चारों ओर हरा फर्श था। नवयुवकों की वह टोली एक पगडण्डी पर चल रही थी। शीतल वायु के झोकों से उनके वस्त्र फड़फड़ा रहे थे।

"भाई, आज तो दुर्गा बाजी मार ले गये!" बेचूलाल ने कृत्रिम हँसी हँसते हुये कहा।

"हाँ साहब, इन्हें १० में ९ नवम्बर मिले हैं!" व्यंग-सूचक भाव से मुस्कराते हुये रामनाथ ने कहा—"मास्टर साहब ने इनके 'एसे' की कितनी तारीफ की थी! क्यों न करें, जनाब, आजकल तो इन्हीं का जमाना है!"

"हई है, भाई!" भोलानाथ ईर्ष्या से जलता हुआ बोला—"फिर हम लोगों से तेज भी तो हैं! इनकी-सी योग्यता भला किसी और में कहाँ है? मुझे तो सिर्फ चार नम्बर मिले हैं!"

"मुझे तो तीन ही मिले!"

"और मैंने तो एक ही पाया है!"

भोला व्यंगयुक्त स्वर में बोला—"दुर्गा के ऊपर मास्टर साहब की खास नजर है।"

अभी तक दुर्गा निस्तब्ध था, किन्तु अब वह अपने को रोक न सका। उसने कुछ क्रोधित स्वर में कहा—"आप लोग इतने फिकरे क्यों कस रहे हैं? आप लोगों से मुझे ज्यादा नम्बर मिले हैं, तो इसमें मेरा क्या कसूर है?"

भोला ने वैसे ही स्वर में कहा—"हाँ, जनाब, हम लोगों को तो बातें करना भी नहीं आता। हम लोग तो फिकरे कसते हैं, व्यंग उड़ाते हैं और आप तो बिलकुल भोले-भाले हैं!"

"भोला मैं तो नहीं, तुम हो," दुर्गा ने हँसते हुये कहा।

सब ठठा कर हँस पड़े।

भोला रूखी हँसी हँस कर बोला—"मेरा तो सिर्फ नाम ही भोला है, लेकिन तुम सचमुच भोले हो!"

भोला की शुष्क हँसी में छिपी हुई अपमानित गर्व की ताड़ना ने दुर्गा के हृदय में प्रतिशोध की इच्छा उत्पन्न कर दी। वह चिटख कर बोला—"मैं अच्छा हूँ या बुरा, तुमसे मतलब?"

भोला ने भी क्रोध से उबलते हुये कहा—"तो आँखें क्यों लाल-पीली कर रहे हो? क्या लड़ने की तबीयत है?"

"लड़ ही लो! क्या तुम से कमजोर हूँ?"

"मैं दोगलों से नहीं लड़ता!"

दुर्गा गरज उठा—"क्या कहा? 'दोगलों से नहीं लड़ता!' तो तुम्हारा मतलब यह है कि मैं दोगला हूँ?"

"हई हो! क्या मैं झूठ कह रहा हूँ?" भोला के क्रोधित स्वर में अब घृणा भी आ मिली थी।

झपट कर दुर्गा ने भोला की पीठ पर एक घूँसा जमा दिया। भोला तिलमिला गया, किन्तु एक क्षण में संभल कर दुर्गा की ओर लपका। दोनों गुंथ कर जमीन पर गिर पड़े। एक क्षण भोला ऊपर दिखाई देता, दूसरे क्षण दुर्गा। दोनों हाँफ रहे थे, दोनों पसीने से तर थे। रामनाथ और बेन्चूलाल उन दोनों को छुड़ा देने का प्रयत्न करने लगे। सहसा भोला को चित करके, दुर्गा उसके सीने पर सवार हो गया और उसके मुख पर थप्पड़ों की वर्षा करने लगा।

रामनाथ और बेन्चूलाल ने दुर्गादत्त को किसी तरह खींच-खाँच कर भोलानाथ से अलग किया।

"अगर फिर कभी ऐसी बात मुँह से निकाली, तो जबान खींच लूँगा!" क्रोध से काँपते हुये दुर्गा ने कहा।

भोलानाथ धूल झाड़ते हुये बोला—"जरूर कहूँगा! दोगला—दोगला—दोगला!"

रामनाथ और बेन्चूलाल हँसने लगे। भोलानाथ की ओर दुर्गादत्त फिर झपटा, किन्तु उसके निकट पहुँचने के पहले ही उसे रामनाथ और बेन्चूलाल ने पकड़ लिया। पुस्तकें बगल में दाब कर, आँसू पोंछता और बड़बड़ाता हुआ, भोलानाथ अपने घर की ओर चला गया।

दुर्गादत्त थोड़ी देर तक संज्ञाशून्य-सा खड़ा रहा, फिर वह जमीन पर बैठ गया और बिलख-बिलख कर रोने लगा। 'दोगलों से मैं नहीं लड़ता!' भोलानाथ के ये कटु वाक्य कानों में गूँज-गूँज कर उसके उद्वेलित हृदय पर हथौड़े की तरह चोटें करने लगे। बगल में बैठ कर रामनाथ और बेन्चूलाल उसे सान्त्वना देने लगे।

"यह क्या करते हो, दुर्गा? आखिर इससे फायदा?"

"उसने तुम्हें गाली दी, तुमने उसे मारा। हिसाब बराबर हो गया। फिर तुम रोते क्यों हो, भाई ?"

"जाने दो, यार, ऐसा हुआ ही करता है।"

"भोला तो बेवकूफ हुई है, जो जी में आया बक दिया ?"

किन्तु वेग से उमड़ते हुए आँसू कहीं रोकने से रुकते हैं ? उस समय उत्तेजित भावों के उस तूफान में फंसा हुआ उसका अपमानित स्वाभिमान इस तरह तड़प रहा था, मानो रण-क्षेत्र में पड़ा हुआ जख्मी योद्धा तड़प रहा हो।...

दुर्गा के चेहरे की ओर देख कर गोविन्दी सहम गई। एक बार जब वह स्कूल से मार खाकर आया था, तो उसका मुँह आज ही की तरह सूखा हुआ था। आज भी मार पड़ी क्या ? उसका मातृ-हृदय आशंका से काँप उठा।

"कैसा जी है, बेटा ?" चिन्तित स्वर में उसने पूछा।

दुर्गा ने कोई उत्तर न दिया। टोपी और पुस्तकें काठ की बड़ी संदूक पर फेंक कर जूते उतार कर, वह पास पड़ी हुई चारपाई पर लेट गया।

"क्या बात है, दुर्गा ? बोलता क्यों नहीं ? स्कूल में मार पड़ी थी क्या ?"

दुर्गा कुछ न बोला। दीवार की ओर करवट लेकर, कमर की फेंट खोल कर उसने धोती सिर से ओढ़ ली।

गोविन्दी की चिन्ता बढ़ गई।

"दुर्गा, तेरा यही ढंग मुझे अच्छा नहीं लगता।" गोविन्दी ने खीझ

कर कहा—"अपना दुख-सुख माँ से न कहेगा, तो किससे कहेगा, बेटा ?"

सहसा गोविन्दी को ऐसा जान पड़ा, मानो दुर्गा की धोती का वह सिरा जिससे उसका सिर ढँका हुआ था, हिल रहा है। शीघ्रता से खाट के समीप जा कर, धोती खोल कर गोविन्दी ने देखा उसकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बह रही थीं। चारपाई पर बैठ कर, दुर्गा को अपनी ओर खींच कर, उसका सिर अपनी गोद में लेकर, गोविन्दी आँचल से उसके आँसू पोंछने लगी।

"क्या हुआ, बेटा ? बोल। किसी ने तुझे कुछ कहा-सुना है क्या ?" उसकी आँखों में आँसू छलक आये।

अश्रुपूर्ण नेत्रों से माता के मुख की ओर ताकते हुए दुर्गा अवरुद्ध कण्ठ से रुक-रुक कर बोला—"अम्मा...मैं दोगला हूँ ?"

"क्या...क्या..?"

"मैं...दोगला...हूँ...क्या ?" दुर्गा के आर्द्र मुख-मण्डल पर वेदना की छाया थी।

गोविन्दी को ऐसा ज्ञात हुआ, मानो सहसा किसी ने उसे उठा कर नीचे फेंक दिया हो। कई क्षण तक वह संज्ञाशून्य-सी बैठी रही। जिस विकट भेद पर उसके नारी-जीवन की सारी मान-प्रतिष्ठा अवलम्बित थी और जिसे इतने दिनों तक दारुण-व्यथा सह कर वह अन्तस्तल में छिपाये थी, क्या वह दूसरे का हो गया ? तो फिर वह क्या करेगी, कहाँ जायगी, विराट विश्व के किस अपरिचित कोने में उसे आश्रय मिलेगा ?

"तुझसे यह किसने कहा दुर्गा ?"

"किसी ने कहा हो, बतलाओ अम्मा, यह सच है कि नहीं ?"

"सच्च हो या न हो, पर जिसने तुझसे यह कहा है, उसे पा जाती, तो उसका मुँह नोच लेती।"

"अम्मा!" मा के मुख को ओर ताकते हुये दुर्गा बोला। उसके नेत्रों में करुणा थी, स्वर में विनय।

जिस असत्य के परदे में गोविन्दी अपना वास्तविक व्यक्तित्व छिपाये हुये थी, उसे बेध कर दुर्गा की सजल आँखें उसका असली रूप देखने का प्रयत्न करने लगीं। मा की दबी हुई आत्मा, पुत्र के विनय का सहारा पाकर विह्वल हो उठी। गोविन्दी ने दुर्गा को हृदय से लगा लिया और उसकी आँखों से अश्रु-धाराएँ बह-बह कर दुर्गा के बालों पर गिरने लगीं। और उसके आन्दोलित हृदय से मंगल-कामना निकल-निकल कर दुर्गा के पीड़ित हृदय को सान्त्वना देने लगी। स्नेहमयी मा की गोद में दुर्गा को आज जैसा आनन्द प्राप्त हो रहा था, वैसा कभी न हुआ था।

दुर्गा को गोद से अलग कर, गोविन्दी खाट से उतरी और बाहर जाकर एक लोटे में शीतल जल ले आई। फिर अपने हाथ से उसने बेटे का मुँह और उसके हाथ-पैर धोए। हाथ-मुँह पोंछ कर दुर्गा फिर चित लेट गया।

काठ की बड़ी सन्दूक खोल कर, मूँग के दो लड्डू निकाल कर, एक कटोरे में रख कर गोविन्दी ने कटोरा दुर्गा की ओर बढ़ाया। तब मजबूर होकर दुर्गा उठ बैठा और मा के हाथ से कटोरा लेकर लड्डू खाने लगा, किन्तु उन लड्डुओं का स्वाद उस समय उसे अच्छा न लगा।..

जिस मर्म-वेदना का भारी बोझ हृदय में लेकर गोविन्दी संसार में अपने दिन काट रही थी, उससे बहुत थोड़े लोग परिचित थे। उसे इसी में सुभीता था। अपने ३५ वर्ष के जीवन में जो दारुण यातनायें उसे

सहनी पड़ीं थीं, उनकी बात ही सोच कर वह सिहर उठती थी। आकाश में उमड़ती हुई काली-काली घटाओं में जैसे कहीं-कहीं कभी-कभी प्रकाश की एक-दो क्षीण, मन्द रेखाएं दृष्टिगोचर हो जाती हैं, उसी तरह जहाँ गोविन्दी को उन यातनाओं के द्वारा अपार व्यथा का अनुभव करना पड़ता था, वहीं उनमें सरल सुख का आभास भी मिल जाता था। उन करुण यातनाओं की सुख-दुखमय स्मृतियों को वह हृदय के गुप्त स्थान में बन्द रखती थी और उस गुप्त स्थान पर वह संसार की कौतूहलपूर्ण दृष्टि नहीं पड़ने देना चाहती थी। इसका कारण था—उस स्थान के भेद से यदि संसार परिचित हो जाता, तो गोविन्दी का कदाचित् जीवित रहना भी कठिन हो जाता। यह अप्रिय सत्य है, किन्तु सत्य सत्य है। मनुष्य-समाज का स्वभाव बालक के समान है, जो उस खिलौने को तोड़ भी डालता है, जिसके साथ खेल कर अपना मनोरंजन करता है।...

गोविन्दी की वयस अभी सोलह वर्ष ही की थी, जब अकस्मात् एक दिन उसका सुहाग लुट गया। अपने नवयुवक पति की चिता के साथ अपनी आशाओं और स्वप्नों की चितायें भी जला कर, निराश्रित रूप और यौवन का दिन-प्रति-दिन बढ़ता हुआ खजाना लेकर, वह मायके लौट आई। उसके मायके का परिवार बड़ा न था। अधेड़ पिता थे, जवान भाई और भावज। वे क्षत्रिय थे, किन्तु किसानी करते थे। परिश्रमी थे, उनके पास जमीन भी उपजाऊ थी, किन्तु वे सम्पन्न न थे। हाँ, उनका काम किसी-न-किसी तरह चला जाता था। मायके में आकर गोविन्दी अपना वैधव्य-जीवन शान्तिपूर्वक बिताने लगी। जहाँ स्नेह हो, वहाँ रूखा-सूखा खा कर, अपने को भूल कर मनुष्य जीवन व्यतीत कर सकता है। गोविन्दी के दुख का बोझ भी क्रमशः हलका पड़ने लगा। मायके आते ही गृहस्थी-सम्बन्धी काम-काज का सारा भार उसने अपने यौवन-स्फूर्तिपूर्ण

कन्धों पर उठा लिया। सबेरे चार ही बजे उठ कर जाँता पीसना, झाड़-बुहारी करना, बरतन मलना, पानी भरना, अनाज धो-बीन कर साफ करना, सवेरे-शाम भोजन बना कर सब को प्रेम से खिलाना—यह थी उसकी नित्य की दिनचर्या। भावज को वह कुछ न करने देती। मध्याह्न के समय घर के धन्धों से छुट्टी पाकर पड़ोसियों के घर चली जाती और उनके कामों में हाथ बँटाती। इस तरह सारे दिन काम-काज में लगी रहने के कारण वह अपने दुःख की बात भूली रहती। किन्तु रात के सन्नाटे में कभी-कभी जब उसे नींद न आती, तो उसके हृदय से तप्त, निःशब्द आहें निकल-निकल कर अनन्त की ओर उड़ने लगतीं। संयम के दबाव के कारण अतृप्त तृष्णा दब तो अवश्य गई थी, किन्तु मरी न थी। वही तृष्णा कभी-कभी बंधन छुड़ा कर चीत्कार करने लगती थी। किन्तु परम्परागत, अनर्गल रीति-नीति के बन्धनों में जकड़े हुये उसके उस छोटे-से संसार को उस करुण, मर्मभेदी चीत्कार की कब परवाह थी? विवेकशून्य आनन्दोन्माद जब आतशबाजी छुड़ाने लगता है, तो उसे इस बात की परवाह कब होती है कि गरीबों के बाँस-फूस के झोंपड़े जल जायँगे? गोविन्दी का संसार सदा की भाँति रंगरेलियों में मस्त था। गाँव में बारातें आती थीं, ब्याह-गौने होते थे। उसकी सखी-सहेलियाँ आये दिन ससुराल जातीं, मायके आतीं। सर्वत्र प्रेम-क्रीड़ा का बाजार गरम था। लेकिन जो सब के लिए था, उसके लिए न था। उसके जख्मों के लिए तो सिर्फ नमक था, हृदयाग्नि के लिये घृत। बस, और कुछ नहीं। किन्तु इतना सब होते हुये भी गोविन्दी को एक प्रकार का सन्तोष था, और सन्तोष में सुख!

एक वर्ष बीत गया। गोविन्दी के जीवन में फिर क्रान्ति उपस्थित हुई। एक दिन उसका ससुर उसे बिदा कराने आ पहुँचा। मायके वाले बिदा करने को राजी न थे। लेकिन जब ससुर ने बड़ी धमचख मचाई,

तो उन्हें राजी होना ही पड़ा। रो-धो कर गोविन्दी बिदा हुई। बिदा होते समय उसका दिल बैठा जाता था, ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानो फिर कभी मायके वापस न आ सकेगी। गोविन्दी की ससुराल में उसके अधेड़ ससुर और बारह वर्ष के देवर के अतिरिक्त और कोई न था। ससुराल में पहुँच कर गोविन्दी ने देखा, घर की दशा अत्यन्त शोचनीय है। बिना गृहिणी के घर की जो हालत साधारणतः हो जाती है, वही दशा उस घर की भी हो गई थी। सारा घर कूड़ा-कर्कट से भर गया था। दीवारों पर मकड़ियों के जाले तने हुये थे। छतों में बर्रे के छत्ते और अबाबीलों के घोंसले बन गये थे। चादर उतार कर, एक खूँटी पर टाँग कर गोविन्दी सफाई में लग गई। कई घण्टे के परिश्रम के बाद जब घर लिप-पुत कर फिर चमकने लगा, तो उसने स्नान किया, भोजन बना कर मर्दों को खिलाया, फिर स्वयं भोजन किया। भोजन करके, थोड़ी देर विश्राम करने के लिये वह उसी खाट पर लेट गई, जिसके साथ उसके वैवाहिक जीवन की मधुर स्मृतियाँ बंधी हुई थीं। लेटते ही उसे झपकी आ गई। स्वप्नों का आक्रमण आरम्भ हुआ। उसने देखा, धीरे से दरवाजा खोल कर उसके पति ने कोठरी में प्रवेश किया, ठीक उसी तरह जैसे उसने उस रात को प्रवेश किया था, जब वह गौने पर बिदा होकर ससुराल आई थी। वही प्रफुल्ल मुद्रा थी, वही यौवनोन्मत्त, बलिष्ठ शरीर, और वही चाह-भरी आँखें! सादे ढंग से सजी हुई सेज पर बैठ कर प्रेमातुर पति ने गोविन्दी का हाथ पकड़ कर उसे अपनी ओर खींचा। निद्रा भंग हुई, स्वप्नों की लड़ी टूट कर अदृश्य जगत् में बिखर गई। धड़कते हुये हृदय को संभालती हुई, उठ कर, आँखें फाड़-फाड़ कर गोविन्दी किसी को ढूँढ़ने लगी—किन्तु कौन था जो उसकी प्यास बुझा सकता? वह तो अदृश्य जगत् से आया था और तुरन्त लौट गया। जब गोविन्दी की विह्वल आँखें शून्य के अतिरिक्त कुछ न देख

पाई, तो उसे अपनी स्थिति का पुनः ज्ञान हुआ। वह फिर खाट पर गिर पड़ी और आँचल में मुख छिपा कर फूट-फूट कर रोने लगी। जख्म फिर हरे हो गये, विरहाग्नि धू-धू करने लगी।

"भौजी!"

शीघ्रता से आँखें पोंछ कर, मुख से आँचल हटा कर, गोविन्दी ने देखा, सामने उसका देवर शिवशंकर खड़ा उसकी ओर आश्चर्यपूर्ण नेत्रों से देख रहा था। उसके हाथ में लोहे का एक छोटा-सा पिंजड़ा था, पिंजड़े में एक अत्यन्त सुन्दर तोता। गोविन्दी उठ कर बैठ गई। पिंजड़े को जमीन पर रख कर, आश्चर्य से मुख खोले हुये शिवशंकर ने कोठरी में प्रवेश किया।

"काहे रो रही हो, भौजी?"

गोविन्दी के हृदय में फिर हूक उठी। निर्बोध बालक शिवशंकर के स्वर में जो करुणा थी, हरे जख्म पर उसकी ठेस लग जाने के कारण आँखों में फिर आँसू छलक आये। गोविन्दी जमीन की ओर ताकने लगी। कपोलों पर फिर आँसू ढुलकने लगे।

"भौजी—भौजी! क्या बात है? बोलो!"

गोविन्दी का कन्धा पकड़ कर शिवशंकर उसे हिलाने लगा।

तब गोविन्दी ने उसे बलपूर्वक अपनी ओर खींच कर हृदय से लगा लिया और फफक-फफक कर रोने लगी। बालक शिवशंकर की आँखें भी डबडबा आईं। भावज की गोद में पड़े-पड़े, चुपचाप आँसू बहाता हुआ, आँखों में अपार करुणा भर कर शिवशंकर उसके आर्द्र मुख-मण्डल की ओर ताकने लगा। वह जिसमें एक निस्सहाय, अबला नारी के निराश्रित हृदय के दुख-सुख समझने की अभी क्षमता न थी, वह

भी मानो इस समय सब-कुछ समझ रहा था। सरल, अबोध देवर के आँसू देख कर, गोविन्दी तड़प गई। आँचल से उसके आँसू पोंछ कर गोविन्द ने पूछा—"तुम क्यों रो रहे हो, लाला?"

शिवशंकर ने कोई उत्तर न दिया।

"बोलो, लाला! तुम काहे रो रहे हो?"

"जिस लिए तुम रो रही हो!"

"मेरे भाग्य में तो अब रोना ही बदा है!"

"क्यों, भौजी?"

"ऐसे ही। अच्छा, यह बताओ लाला, यह सुग्गा कहाँ पाया?"

"यह तो मेरा ही है।" शिवशंकर उठ कर बैठ गया—"इसे मैंने ही पकड़ा था। बड़ा अच्छा सुग्गा है! खूब बोलता है।"

उछल कर, कोठरी से निकल कर शिवशंकर ने पिंजड़ा उठा लिया। "आओ देखो, भौजी!"

"बड़ा सुन्दर है!" शिवशंकर के हाथ से पिंजड़ा लेकर गोविन्दी मुस्कराती हुई तोते को ध्यान से देखने लगी।

"इसका नाम क्या है, लाला?"

"गंगाराम। बोलो, गंगाराम!"

तुरन्त गंगाराम टायँ-टायँ करने लगे।

"यह नहीं। कहो, सीता राम!"

"शीता—आम! शीता आम!" तब देवर-भावज खिलखिला कर हँसने लगे, और हँसी के उस प्रवाह में वेदना के आँसू घुल-मिल गये।

इस तरह ससुराल में रहते हुए कई मास बीत गये। विशाल वृक्ष की जड़ जिस तरह जमीन की तह में दूर-दूरतक फैल जाती है, गोविन्दी की नारी-सुलभ विभूतियाँ उसी तरह उस छोटे से घर में सर्वत्र व्याप्त हो गईं। उसके ज्योतिर्मय व्यक्तित्व ने उस घर के कण-कण को अपने रंग में रंग लिया। इतना ही नहीं, वह पावन प्रकाश उस संकुचित सीमा-प्रान्त से निकल-निकल कर इधर-उधर फैलने लगा। प्रकाश की उस अविरल धारा में सुख था, शान्ति थी। किन्तु इस प्रकार के सुख में, शान्ति में स्थायित्व की मात्रा बहुत कम होती है।...

प्रतिक्रिया के वशीभूत होकर सुख का प्रवाह क्रमशः मन्द पड़ने लगा। बुझने से पहले दीपक जिस तरह अपनी बची-बचाई सम्पूर्ण आभा लेकर एक बार फड़क उठता है, ठीक उसी तरह गोविन्दी के उस जीवन में वसन्त-श्री उग्र रूप में प्रस्फुटित हुई। एक दिन एक मेहमान आया। मेहमान दूर के रिश्ते से गोविन्दी का देवर लगता था। इसलिए वह उससे परदा न कर सकी।

गोधूलि के समय शिवशंकर के साथ जब वह भीतर पहुँचा, तो गोविन्दी आँगन में बैठी हुई उड़द की दाल धो रही थी।

"भौजी, सलाम!" मुस्कराता हुआ वह गोविन्दी की ओर एकटक देखने लगा।

"खुश रहो!" घूँघट की ओट से गोविन्दी भी उसकी ओर देखने लगी। वह लम्बे कद का, गोरे रंग का, एक बलिष्ठ युवक था। उसकी वयस चौबीस-पच्चीस वर्ष से कम न थी। वह गाढ़े की साफ मिर्जई और धोती पहिने हुए था।

"बड़ा बनाओगी क्या, भौजी?" उछल कर, भावज के पास पहुँच

र, उसके कंधे पर हाथ रख कर शिवशंकर ने उत्सुकता से पूछा।

"हाँ, लाला! बड़ा ही बनाऊँगी।"

"तब तो बड़ा मजा आयेगा!"

इन्द्रपाल जब तक भीतर रहा, उसकी आँखें गोविन्दी के चेहरे से न हटीं। वे शोख आँखें घूँघट फाड़ कर उस सुन्दर चेहरे को देख लेना चाहती थीं। पर यह न हो सका। कुछ निराश होकर वह शिवशंकर के साथ बाहर चला गया। एक दीर्घ निःश्वास खींच कर गोविन्दी दाल पीसने लगी।

रात के समय शिवशंकर के वृद्ध पिता, रामसिंह, के साथ बैठ कर, इन्द्रपाल को भोजन करना पड़ा, इसलिये गोविन्दी के साथ बातचीत करने का उसे मौका न मिला। किन्तु उसकी आँखें उस समय भी गोविन्दी की ओर बराबर दौड़ती रहीं। गोविन्दी के उर-देश में एक तूफान उग्र रूप से उठ खड़ा हुआ। एक मुद्दत से विवशता के भार से दबी हुई तृष्णा स्वतन्त्र होकर ताण्डव नृत्य करने लगी।

दूसरे दिन की बात है। दिन का तीसरा पहर था। इन्द्रपाल ने घर के भीतर प्रवेश किया। गोविन्दी अपनी कोठरी में खाट पर लेटी हुई आराम कर रही थी। अर्द्ध-निद्रा की अवस्था में पड़ी हुई, वह तरह-तरह की बातें सोच रही थी। कोठरी के द्वार पर आकर इन्द्रपाल ने पुकारा—"भौजी!"

चौंक कर, साड़ी सँभालती हुई उठ कर, खाट से उतर कर, गोविन्दी खड़ी हो गई।

"आओ, लाला।"

मुस्कराता हुआ कोठरी में आकर वह खाट पर बैठ गया। गोविन्दी एक ओर जमीन पर बैठ गई।

"तुम सो रही थीं क्या, भौजी ?"

"नहीं लाला, सो तो नहीं रही थी। ऐसे ही पड़ी थी।"

"भौजी !"

"क्या है, लाला ?"

"तुम मेरे सामने घूँघट क्यों काढ़े रहती हो ?"

"मेरी जैसी पापिन का मुँह देख कर क्या करोगे, लाला ?"

"तुम अगर पापिन हो, तो दुनिया में शायद कोई पुण्यात्मा नहीं है ! नहीं, भौजी, तुम हमसे बड़ी हो, इसलिये हमारे सामने तुम्हें घूँघट न काढ़ना चाहिए।"

लज्जा के भार से दबी हुई गोविन्दी चुपचाप बैठी रही।

"मेरी बात न मानोगी, भौजी ?"

"क्यों न मानूँगी, लाला, मगर..."

"हाथ जोड़ता हूँ, भौजी, घूँघट हटा दो।"

"हाथ क्यों जोड़ रहे हो, लाला ? अच्छा, लो।" विवश होकर, गोविन्दी ने घूँघट मत्थे तक खिसका दिया।

गोविन्दी के मुख की सुन्दरता देखता हुआ, इन्द्रपाल चित्रलिखित-सा बैठा रह गया। लजा कर, सिर नीचा करके गोविन्दी फर्श की ओर ताकने लगी। उसका हृदय वेग से धड़कने लगा। उज्ज्वल ललाट पर पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदें उभर आईं।

"लाला !"

"क्या है, भौजी ?" होश में आकर, चित्त सँभाल कर इन्द्रपाल ने कहा।

"मेरा मुँह देख कर क्या पा गये, लाला ?"

झेंप कर, इन्द्रपालसिंह ने मुस्कराते हुए कहा—"बिना मुँह देखे बात करने में मजा नहीं आता, भौजी।"

"खैर, अब तो तुम्हारे मन की बात हो गई !"

"मुझे नहीं मालूम था कि तुम ऐसी सुन्दर हो, भौजी !" एक दीर्घ निःश्वास खींचकर इन्द्रपाल ने कहा।

गोविन्दी का हृदय खिल उठा। किन्तु उस प्रशंसा का वह कोई उत्तर न दे सकी।

"ऐसी सुन्दरता पाकर, ऐसा दुख भोग रही हो ! भगवान् ने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, भौजी !"

"यह तो करम का फल है, लाला ! भगवान् को क्यों दोष दूँ ?"

"हाँ भौजी, भगवान् को दोष न देना चाहिए।"

कई क्षण वह मौन बैठा रहा। फिर उसने कहा—"घर में अकेले पड़े-पड़े तुम्हारा मन कैसे लगता है, भौजी ?"

"मन क्या लगता है, लाला ! किसी तरह जिन्दगी बिताना है। हँस कर रोकर, जैसे-तैसे दिन काट रही हूँ।"

"हाँ, भौजी, और उपाय ही क्या है ?" भावोन्माद से सिहर कर वह निस्तब्ध हो गया।

थोड़ी देर के बाद उसने पूछा—"चाचा तो तुम्हारे साथ अच्छा बर्ताव करते हैं न, भौजी ?"

"हाँ, लाला, बाबा मेरा बड़ा ख्याल रखते हैं। अब तो उन्हीं का सहारा है। अगर वह भी मुँह मोड़ लें, तो मुझे कहाँ ठिकाना मिलेगा ?"

"ठिकाना देनेवाला तो भगवान् है, भौजी ! वह एक दरवाजा बन्द करता है, तो तुरन्त दूसरा खोल देता है।"

"हाँ, ठीक कहते हो, लाला।"

इन्द्रपाल जब घर से बाहर निकला, तो उसका अशान्त मन स्वप्न-लोक में विचरण कर रहा था।

उसके बाद क्या हुआ ? रात के दो बज चुके थे। बाहर दालान में खाट पर पड़ा हुआ इन्द्रपाल तीन घण्टे से बराबर करवटें बदल रहा था, किन्तु उसकी आँखों में नींद न थी। उसके सारे शरीर में आग-सी लगी हुई थी। अतृप्त मन कल्पना के पर लगा कर उस स्थान पर मँडरा रहा था, जहाँ उसकी तृष्णा शान्त हो सकती थी। उठ कर, खाट से उतर कर, वह दबे पैर दरवाजे के पास गया। बन्द दरवाजे को उसने धीरे से धक्का दिया। अन्दर से साँकल न चढ़ी थी, दरवाजा खुल गया। वेग से धड़कते हुए हृदय को सँभालता हुआ, वह तुरन्त अन्दर घुसा। सावधानी से दरवाजा बन्द करके, इन्द्रपाल धीरे-धीरे उस कोठरी के द्वार पर जा पहुँचा, जहाँ गोविन्दी निद्रा में मग्न थी। साहस करके, उसने कोठरी में प्रवेश किया। कोठरी में अंधकार छाया हुआ था। टटोल-टटोल कर खाट के समीप जाकर, घुटनों के बल बैठ कर उसने गोविन्दी का कन्धा पकड़ कर हिलाया। चौंक कर, आँखें खोल कर, भयभीत गोविन्दी ने जोर से पूछा—"कौन है ?"

तब इन्द्रपाल ने उसका हाथ पकड़ लिया।

"कौन है ? बोलता क्यों नहीं ?" थर-थर काँपते हुये, हाथ छुड़ाते हुये गोविन्दी ने फिर कड़क कर पूछा।

"मैं हूँ, भौजी।"

"कौन, लाला ?"

"हाँ।"

"इस समय तुम यहाँ कैसे आ गए ?" वह उठ कर बैठ गई। उसकी साँस तेजी से चलने लगी, हृदय वेग से धड़कने लगा।

इन्द्रपाल कोई उत्तर न दे सका। वह उसके बगल में खाट पर बैठ गया।

"तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, लाला, इस वक्त यहाँ से चले जाओ। कोई देख लेगा, तो मेरी क्या गति होगी ?"

"यहाँ कौन बैठा है, जो देख लेगा ?"

गोविन्दी को अपनी ओर खींच कर उसने उसे कस कर बाहु-पाश में बाँध लिया।

डूबते हुए का सहारा छिन गया। गोविन्दी संज्ञाशून्य-सी हो गई। इतनी मुद्दत से दबी हुई उसके हृदय की दुर्बलता ने आज इस समय आँधी-बवंडर की तरह उठ कर, उसके मन और आत्मा पर आधिपत्य जमा लिया। तब...उसकी सतीत्व-निधि लुट गई...।

दो मास तक इन्द्रपाल गोविन्दी के घर पर बराबर डटा रहा। गुप्त रूप से वे नित्य मिलते रहे। एक बार हिम्मत खुल जाने पर चोर का बराबर चोरी करते रहना स्वाभाविक ही है। किन्तु चोरी एक दिन खुल गई। उसी दिन वह वहाँ से गायब हो गया।

गोविन्दी गर्भवती हो गई थी। ऐसी बातें छिपाये नहीं छिपतीं। उसके श्वसुर रामसिंह को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने सिर पीट लिया। एक सप्ताह बाद, गंगा-स्नान के बहाने वह उसे प्रयाग लिवा गया। त्रिवेणी में स्नान करने के बाद, वे लौट रहे थे। बाँध पर एक

जगह गोविन्दी को बिठा कर, कुछ खरीदने के बहाने वह एक ओर चला गया। फिर वह वापस नहीं आया। घण्टे-पर-घण्टा बीतने लगा। घबरा कर गोविन्दी रोने लगी। सैकड़ों मनुष्य उसके सामने आ-जा रहे थे, किन्तु उनमें कोई उसका अपना न था। कुछ लोग उसकी ओर देखते हुए चले गये, कुछ उसे देख कर, थोड़ी देर रुक कर फिर आगे बढ़ गये। दो-एक रुक कर, उसकी ओर टकटकी बाँध कर देखने लगे। सामने खड़े हुये उन लोगों की आँखों का भाव देख कर गोविन्दी सहम गई।

सहसा लम्बे कद का एक बलिष्ठ पुरुष उसके समीप आकर खड़ा हो गया।

उसके शरीर पर सफेद कुरता था और साफ़ धोती। उसके सिर, मूँछों और दाढ़ी के बाल पक चले थे। उसके एक हाथ में लाल रंग का अँगौछा था, दूसरे में जल से भरा हुआ ताँबे का एक छोटा कलसा। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में अपार करुणा भर कर गोविन्दी के सूखे चेहरे की ओर देख कर उस गौरवर्ण पुरुष ने पूछा—"क्यों रो रही हो, बेटी?"

उस पुरुष की ओर देख कर गोविन्दी के प्रताड़ित हृदय में भक्ति भाव उमड़ने लगा। उसकी आँखों से अश्रु-धाराएँ वेग से बहने लगीं।

"रोओ न, बिटिया! तुम्हारा कोई खो गया है क्या? मुझे अपना हाल बताओ।"

आँसू पोंछ कर, चित्त सँभाल कर गोविन्दी ने धीरे-धीरे अपना सारा हाल कह सुनाया। उसकी करुण कथा सुन कर एक दीर्घ निःश्वास

खींच कर, उस व्यक्ति ने सहानुभूति-सूचक स्वर में कहा—"अच्छा बेटी, तो फिर तुम क्या अपने घर जाना चाहती हो ?"

"घर में अब मुझे कौन रखेगा, बाबा ?"

"हाँ बेटी, ठीक कहती हो। तो फिर तुम मेरे साथ चलोगी ?"

"चलूँगी, बाबा।"

तब वह उसे अपने साथ लिवा ले गया। वह एक मन्दिर का पुजारी था। गोविन्दी उसकी सेवा-टहल करने लगी। ठीक नौ मास बाद गोविन्दी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। दुर्गादत्त उसका वही पुत्र था। उस मन्दिर में पुजारी का एक युवक शिष्य भी रहता था। उस ब्राह्मण युवक की इच्छानुसार पुजारी ने उसके साथ गोविन्दी का विवाह कर दिया। मन्दिर के निकट एक मकान लेकर वह गोविन्दी के साथ रहने लगा।

२

शाम हो चली थी। घर से निकल कर दुर्गादत्त उस मन्दिर की ओर चला, जो बस्ती की उत्तरी सीमा पर बना हुआ था। जख्म पर मरहम लग जाने के कारण पीड़ा में उग्रता तो न थी, किन्तु टीस बराबर बनी हुई थी। आज अनायास ही उसने जो विकट जानकारी प्राप्त की थी, उसके बोझ से वह दबा जा रहा था। मन्दिर की ओर जानेवाला एक सीधा मार्ग था, लेकिन इस समय भीड़ से भरी हुई सड़क पर होकर जाना दुर्गा के लिये असम्भव था। लोगों की कौतूहलपूर्ण आँखों के सामने वह कैसे जाय ? टेढ़ी-मेढ़ी, अँधेरी, प्रायः जन-शून्य गलियों में होता हुआ वह इस तरह चला जा रहा था, मानो कोई चोर चोरी का माल लिए हुये, लोगों की आँखें बचाता हुआ चला जा रहा हो। लज्जा और आत्म-ग्लानि से आन्दोलित दुर्गा तेजी से आगे बढ़ता गया।

एक सुरम्य वाटिका के मध्य में वह बृहदाकार देवालय एक बलिष्ठ, अनुभवी, वयोवृद्ध महापुरुष की भाँति खड़ा हुआ था। प्राचीन शिल्प-शैली का वह एक सुन्दर नमूना था। देवालय के बाह्य आकार पर वृद्धावस्था के चिन्ह तो अवश्य व्यक्त थे, किन्तु उसके भीतरी भाग में आज भी वही

नवीनता, वही सफाई-सुथराई, वही सुव्यवस्था थी जैसी कदाचित् उसके निर्माण के समय थी। और इसका श्रेय था देवालय के पुजारी, पंडित रामभजदत्त दुबे को। पुजारी जी ने अपने जीवन के बहत्तर वर्ष अपने उपास्यदेव भगवान् श्री कृष्ण और उनकी चिर-संगनी राधा की सेवा ही में व्यतीत किये थे। किन्तु आज जीवन के संध्याकाल में भी उनके प्रौढ़ हृदय में यौवनोचित उत्साह की कमी न थी।

दुर्गा ने धीरे-धीरे वाटिका में प्रवेश किया। ऊपर सुविस्तृत गगन-मण्डल में लाल-पीले बादलों की चादर तनी थी। मेघ-माला की उस रंगीन छाया के कारण, वाटिका में मध्यान्ह का-सा प्रकाश फैला हुआ था। उस असाधारण प्रकाश और भाँति-भाँति के सुन्दर पक्षियों के सुमधुर कलरव के कारण, उस समय उस लहलहाती हुई वाटिका में विचित्र समाँ छाया हुआ था। थोड़ी देर तक वाटिका में इधर-उधर घूम कर दो-तीन नीबू और बेला के थोड़े से फूल चुन कर, दुर्गा मन्दिर की चमकती हुई सीढ़ियों पर जा बैठा।

मण्डप में आसन पर बैठे हुए पुजारीजी आँखें बन्द किये ध्यान में मग्न थे। घी से भरे हुए दीपक का स्वच्छ, निर्मल प्रकाश मण्डप में फैला हुआ था।

जप समाप्त कर, आँखें खोल कर, आरती जला कर, घंटी बजा-बजा कर, पुजारीजी आरती करने लगे। सचेत होकर, उठ कर, मण्डप के द्वार पर जाकर, दुर्गा एक ओर ठिठक कर खड़ा हो गया। आरती एक ओर रख कर, उठ कर, द्वार की ओर देख कर, पुजारीजी ने कहा—"कौन है? दुर्गा।"

"हाँ बाबा!"

"बाहर क्यों खड़े हो, बेटा? अन्दर आकर प्रसाद लो।"

अन्दर जाकर, पुजारीजी के पैर छूकर दुर्गा ने प्रणाम किया। उसके सिर पर हाथ फेर कर, पुजारीजी ने उसे आशीर्वाद दिया। फिर भाँति-भाँति की मिठाइयों से भरी हुई तश्तरी से दो बर्फियाँ और दो मोतीचूर के लड्डू उठा कर उन्होंने उसके हाथ पर रख दिये। बाहर निकल कर एक ओर पत्थर के एक खम्भे के सहारे बैठकर, दुर्गा प्रसाद खाने लगा।

दुर्गा की ओर देख कर पुजारीजी ने कहा—"प्रसाद पा चुके, दुर्गा ? अच्छा, इधर आओ। जल पी लो।"

अपने स्थान से उठ कर, उनके समीप जाकर, दुर्गा एक ओर खड़ा हो गया। एक साफ लोटे में भरे हुए शुद्ध जल से उन्होंने उसके हाथ धुलाये। जल पीकर, जेब से रूमाल निकाल कर दुर्गा हाथ पोछने लगा।

"आओ दुर्गा, बैठो।"

हाथ-मुँह पोछ कर दुर्गा कम्बल पर एक ओर बैठ गया। अपनी बड़ी-बड़ी तेज आँखों से दुर्गा के चेहरे की ओर देखकर पुजारीजी ने कहा—"तुम उदास क्यों हो, दुर्गा ?"

दुर्गा निस्तब्ध बैठा रहा। उसकी आँखों में आँसू छलक आये।

"क्या बात है, दुर्गा ? बोलो।"

जिस उदार-हृदय, भद्र व्यक्ति से आज तक दुर्गा इतना मान, इतना आदर, इतना स्नेह पा चुका उससे अपने दुख की बात छिपा जाने की उसमें क्षमता न थी। फर्श की ओर ताकते हुये अवरुद्ध कंठ से उसने कहा—"आज एक लड़के से झगड़ा हो गया, बाबा!"

"क्यों झगड़ा हुआ, बेटा ?"

"उसने मुझे दोगला कह दिया। मुझे क्रोध आ गया, मैंने उसे

पीटा। उसने भी मुझे मारा।" आँसू की दो बूँदें उसके मुर्झाये कपोलों पर ढुलककर कुरते पर आ पड़ीं।

"तुम्हें दोगला कह दिया ?" पुजारीजी के मुख-मण्डल पर रोष की एक रेखा झलमला कर अदृश्य हो गई।

मुख फेर कर दुर्गा ने अपनी आँखें पोंछ डालीं।

दार्शनिक गम्भीरता से सिर हिलाते हुये पुजारीजी ने कहा—"उस लड़के ने बड़ा खराब काम किया! खैर, क्या करोगे, बेटा ? जाने दो, जो हुआ सो हुआ।"

उमड़ते हुये आँसुओं को रोकने की चेष्टा करते हुये दुर्गा ने कहा—"क्यों बाबा...दोगला होना...क्या बड़ा भारी पाप है ?"

एक मिनट तक कुछ सोच कर, एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर पुजारीजी ने कहा—"हमारे सनातन धर्म के अनुसार दोगली सन्तान उत्पन्न करना पाप तो अवश्य है, किन्तु बेटा, दोगला होने की जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर नहीं है।"

दुर्गा को ऐसा जान पड़ा, मानो उसके जलते हुये हृदय पर मक्खन की गोली रख दी गई हो! यौवन-स्फूर्ति से भरे हुये अपने उस शरीर की सम्पूर्ण शक्ति से पुजारीजी के वाक्य सुन कर उसने शान्ति की साँस ली, किन्तु वेदना की टीस के कारण उसे पूरी तरह सन्तोष न प्राप्त हुआ।

एक क्षण निस्तब्ध रह कर पुजारीजी ने फिर कहा—"अपने प्राचीन हिन्दू-धर्म का एक तुच्छ सेवक होने का मुझे भी गर्व है! इसी की सेवा में मैंने अपने बाल सफेद किये हैं। किन्तु हमारे इस पतित-पावन धर्म के नाम पर समाज में जो अत्याचार आज-दिन किये जा रहे हैं, उनकी

बात सोच कर रोना आ जाता है। तुम्हारी मा का हाल मुझे अच्छी तरह मालूम है, बेटा। जो कुछ हुआ, उसमें उस बेचारी का क्या दोष था? वह विधवा हो गई थी, उसका विवाह कर देना चाहिये था। ऐसा नहीं किया गया। उस बदमाश इन्द्रपाल ने उसके साथ जबरदस्ती की, इसलिये उसके गर्भ रह गया। बिरादरी के डर के कारण तुम्हारे दादा ने तुम्हारी माता को घर से निकाल दिया। तुम्हारी बिरादरी का धर्म था कि वे इस मामले की जाँच-पड़ताल करते, इन्द्रपाल को सजा देते और गोविन्दी को क्षमा करते। लेकिन न्याय संसार में किसके साथ होता है? यह सब सोच कर बड़ा दुख होता है। खैर, जाने दो बेटा! अपने ऊपर जो कुछ बीते, उसे चुपचाप भोग लेने ही में आजकल कल्याण है।"

एक नई स्फूर्ति, एक नया उत्साह दुर्गादत्त की रग-रग में दौड़ने लगा। उसकी मनोव्यथा बहुत कम हो गई। उसे ऐसा जान पड़ने लगा, मानो वह एकाएक प्रौढ़ हो गया हो।

"तुम भावुक प्रकृति के हो, इसलिये तुम्हें इतना कष्ट हुआ। लेकिन आज मेरी एक बात गाँठ बांध लो बेटा, संसार में मान-अपमान का विचार न करना चाहिये। जन-साधारण की सम्मति का कुछ ठिकाना नहीं, आज कुछ है, कल कुछ है। जो लोग आज तुम्हारी हँसी उड़ाते हैं, वही कल तुम्हारी सेवाओं के कारण तुम्हारी प्रशंसा करने लगें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात न होगी। सेवा-धर्म का पालन करने से खराब धब्बे धुल जाते हैं।"

भावोन्माद से विह्वल होकर, दुर्गा ने पुजारीजी के चरणों पर सिर रख दिया। उसे उठाकर हृदय से लगा कर, वे उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। आर्य-समाज के जलसों में इस प्रकार के विचारों से भरे

हुये व्याख्यान उसने कई बार सुने थे। किन्तु सनातन-धर्म के एक कट्टर पक्षपाती के मुख से ऐसी बातें सुनने की आशा उसे न थी। ऐसे व्यक्ति के मुख से अपने निर्दोष होने की बात सुन कर, उसका मनोमालिन्य बिलकुल दूर हो गया। भोलानाथ के प्रति उसके हृदय में जो प्रतिकार की भावना आसन जमाये बैठी थी, उसे पराजित होना पड़ा।

"मा से कह कर यहां आये हो कि नहीं, बेटा? कहीं वह घबराती न हो?"

"नहीं, बाबा, कह कर आया हूँ।"

पुजारीजी को इत्मीनान हो गया। तब वे झूम-झूम कर गाने लगे—

"दयानिधि तोरी गति लखि न परे—
पिता वचन मेटे सो पापी,
सोइ प्रह्लाद करे
ताकी बन्दि छुड़ावन को प्रभु,
नरसिंह रूप धरे!—दयानिधि० ॥"

भक्ति-रस में डूबी हुई ये पंक्तियाँ उस मनोमुग्धकारी वायुमण्डल में गूँज-गूँज कर एक विचित्र समां बाँधने लगीं। आनन्द से मस्त होकर दुर्गा भी झूमने लगा।

एक खम्भे की आड़ में अँधेरे में कोई आकर खड़ा हो गया। चुप होकर, उस ओर दृष्टि डाल कर पुजारीजी ने पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, बाबा, गोविन्दी!" खम्भे की आड़ से सामने आकर, गोविन्दी ने पुजारीजी के चरण छुये।

"सौभाग्यवती हो, बेटी !" उसके सिर पर हाथ फेर कर पुजारीजी ने आशीर्वाद दिया।

"बैठो, गोविन्दी। कैसे चलीं ?"

कम्बल अलग हटा कर संगमरमर के फर्श पर एक ओर बैठ कर गोविन्दी ने कहा—"दुर्गा को देखने चली आई हूँ, बाबा।"

"यह तुमसे कह कर नहीं आया था क्या, बिटिया ?"

"कह कर तो आया था, बाबा, लेकिन मेरा जी नहीं माना। आज किसी लड़के ने इससे झगड़ा किया था। जब यह घर लौट कर आया, तो बड़ा अनमना था। इसलिये मुझे डर लगा कि बहक यह कहीं चला न जाय।"

"हाँ, बेटी, झगड़े की बात मैंने इससे सुन ली है। क्या करोगी, दुनिया का यही रंग है !"

एक दीर्घ निःश्वास खींच कर गोविन्दी ने सिर झुका लिया। उसके हृदय में विश्राम करती हुई वेदना करवटें बदलने लगी। उसके उतरे हुये चेहरे की ओर करुण दृष्टि से देख कर पुजारीजी ने कहा—"दुर्गा अभी लड़का है। संसार का अभी इसे अनुभव नहीं है। इसके खून में जोश है, इसलिये आज झगड़ा हो गया। फिर जहां दो-चार बालक इकट्ठे होंगे, वहां झगड़ा होना स्वाभाविक भी है !"

"आप ठीक कहते हैं, बाबा ! इसीलिये तो मैं इससे कहती रहती हूँ कि अपने काम से काम रक्खा कर, किसी के साथ ज्यादा उठा-बैठा न कर। लेकिन यह मेरी कब सुनता है ?"

"तुम्हारी यह सीख तो ठीक नहीं है, गोविन्दी। लड़के लड़कों के साथ जरूर उठें-बैठेंगे। हाँ, खराब लड़कों के साथ किसी लड़के का

उठना-बैठना उचित नहीं है।"

"लेकिन बाबा, जिस लड़के से इसका झगड़ा हुआ, वह तो खराब ही था न?"

"नहीं बिटिया, वह खराब लड़का नहीं मालूम होता। वह बेवकूफ है, जिद्दी है। अगर वह मूर्ख न होता, तो दुर्गा के मुँह पर ऐसी बात कहने का साहस न करता। बदमाशों में हिम्मत नहीं होती। वे पीछे से चोट करते हैं, सामने आने का साहस उन लोगों में नहीं होता!"

पुजारीजी के मुख से दुर्गा ने आज जो अनोखी बातें सुनी थीं, उन्हें बड़ी उत्सुकता से मस्तिष्क में संचित करता हुआ वह चुपचाप बैठा रहा। उसके हृदय मैं आशावादिता अंकुरित हो गई।

थोड़ी देर तक निस्तब्ध बैठे रह कर पुजारीजी ने कहा—"अच्छा, बेटी, अब घर जाओ। रात ज्यादा हो रही है।"

तब वे दोनों उठ खड़े हुये। हाथ जोड़ कर, सिर झुका कर, प्रणाम कर, आशीर्वाद पाकर दोनों चले गये। उस समय उन दोनों की दशा उन सहयोगियों की-सी हो गई थी, जो एक-दूसरे का सहारा लेकर ही मार्ग तय कर सकते हों।

३

उस बस्ती के समीप ही अमीरों के बहुत से बंगले थे। उन्हीं में एक भोला का बंगला था। उसके पिता बाबू सिद्धनाथ श्रीवास्तव एक बड़े जमींदार थे। उनकी वार्षिक आय पचास हजार से कम न थी। उनके परिवार में केवल चार प्राणी थे—वे स्वयं, उनकी स्त्री, एक पुत्र और एक पुत्री। किन्तु इस छोटे-से परिवार पर ही उनकी आमदनी का अधिकांश भाग समाप्त हो जाता था। हाथ रोक कर चलना उन्हें न आता था। सेवा-टहल के लिये एक दर्जन नौकर थे, सवारी के लिये मोटर थी और एक फिटन।

स्कूल से लौट कर, सीधे अपने कमरे में जाकर, पुस्तकें मेज पर पटक कर भोला एक आराम-कुरसी पर पैर फैला कर लेट गया। उस समय उसके हृदय में क्षोभ था, घृणा थी, साथ ही आत्म-ग्लानि भी थी। आज की शोचनीय घटना पर विचार करते-करते जहाँ उसके हृदय में दुर्गा के प्रति रोष का भाव भयंकर वेग से उठ खड़ा हुआ, वहीं एकाएक उसके विपक्ष में पश्चात्ताप भी आ डटा। दुर्गा ने उसे

पीटा था, लेकिन उसने भी तो उसे गाली दी थी। बेचूलाल से एक दिन उसने सुना था कि दुर्गा दोगला है। दुर्गा दोगला हो या न हो, ऐसी बात क्या उसे मुख से निकालनी चाहिये थी? यह थी विवेक की राय, लेकिन उसका अपमानित स्वाभिमान विवेक की राय स्वीकार करने के लिये अभी पूरी तरह तैयार न था।

आधे घण्टे तक, आँखें बन्द किये हुये वह आराम कुरसी पर अस्त-व्यस्त पड़ा रहा। उसके सारे शरीर में मीठा-मीठा-सा दर्द हो रहा था। कुरसी से उठ कर, उसने धीरे-धीरे गुसलखाने में प्रवेश किया। हाथ-मुँह धोकर, बाल सँवार कर पन्द्रह मिनट के बाद जब वह गुसलखाने से बाहर निकला, तो उसकी तबीयत हलकी हो गई थी।

वह फिर आरामकुरसी पर लेट गया। इस समय वह नित्य हाकी खेलने जाया करता था, किन्तु आज वह कहीं न जा सकेगा। मेज पर पड़ी हुई एक पत्रिका उठा कर, वह पढ़ने की चेष्टा करने लगा। सवेरे पिता के पुस्तकालय में इस पत्रिका को देख कर बड़े उत्साह से वह इसे उठा लाया था। एक-एक करके वह पत्रिका के सारे पृष्ठ पलट गया, किन्तु किसी लेख या कविता में उसका मन नहीं लगा, कोई चित्र भी पसन्द न आया। तब उसे बन्द करके, मेज पर फेंक दिया। आँखें मूंद कर वह फिर विचारों में मग्न हो गया।

"भैया!"

भोला ने आँखें खोल कर देखा, सेवक उजागिर सामने खड़ा था।

"स्कूल से कब आये, भैया? माजी बड़ी देर से आपको पूछ रही हैं।"

"थोड़ी देर हुई।"

"तो चलो, भैया, नाश्ता कर लो।"

"मेरा नाश्ता तुम यहीं ले आओ ।"

"क्यों भैया ? जी अच्छा नहीं है क्या ?"

"जी अच्छा है । तुम जाओ, जो कुछ कह रहा हूँ, वह करो ।"

भोला ने फिर आँखें बन्द कर लीं । फिर वही विकल विचार उसे तंग करने लगे ।

"उठो भैया, नाश्ता कर लो ।" मिठाइयों और ताजे फलों से भरी हुई तश्तरी हाथ में लिये हुए उजागिर सामने आ खड़ा हुआ ।

आँखें उसी तरह बन्द किये हुए भोला ने कहा—"मेज पर रख दे ।"

आँखें फाड़ कर भोला के उतरे हुए मुख की ओर देख कर, तश्तरी मेज पर रख कर उजागिर चला गया ।

पाँच मिनट के बाद, भूख से तंग आकर, भोला ने आँखें खोलीं । कुरसी से उठ, मेज के समीप जाकर उसने दो-तीन केले छील कर खाये । केलों के छिलके खिड़की से बाहर फेंक कर, वह वाटिका का दृश्य देखने लगा । रंगीन बादलों के प्रकाश से वाटिका चमक रही थी । फूलों से लदी हुई लताएं और नन्हें-नन्हें पौधे सुमधुर समीर के झोकों से लहरा रहे थे । किन्तु भोला का मनोरंजन न हो सका । बादलों का वह असाधारण प्रकाश उसे अच्छा न लगा । चंचल समीरण की छेड़-छाड़ भी पसन्द न आई । खिड़की से हट कर, आरामकुरसी के समीप जाकर वह फिर लेट गया । उसने फिर आँखें बन्द कर लीं । तब उसके विकल मस्तिष्क ने निद्रा देवी की गोद में शरण ली ।

"भोला !"

चौंक कर, आँखें खोल कर, भोला ने देखा, कमरे में अंधेरा छाया हुआ था ।

"कौन है ? अम्मा ?"

"हाँ।"

कुरसी से उठ कर, बिजली का खटका दबा कर उसने रोशनी की।

चिन्तित भाव से सिर हिलाते हुए सुभद्रा देवी ने पूछा—"कैसी तबीयत है, बेटा ?"

"अच्छी तो है।"

"तो फिर तुम इस समय सो क्यों रहे थे ? खेलने क्यों नहीं गये ?"

फर्श की ओर ताकता हुआ भोला निस्तब्ध खड़ा रहा। एक कुरसी पर बैठ कर मा ने कहा—"स्कूल में मार पड़ी थी क्या ? बोलते क्यों नहीं, बेटा ?"

"नहीं, अम्मा, स्कूल में मार तो नहीं पड़ी।" आरामकुरसी पर बैठ कर भोला ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा।

"तो फिर तू अनमना-सा क्यों दिखाई दे रहा है ?" वात्सल्य से छलकते हुए उस मातृ-हृदय की चिन्ता बढ़ गई।

"एक लड़के से...झगड़ा हो गया था, अम्मा।"

"झगड़ा हो गया था ?"

"हाँ।"

"झगड़ा क्यों हुआ, बेटा ?"

"उसने मुझे मारा था।"

"क्यों मारा था ? तूने क्या उसे कुछ कहा-सुना था ?"

"नहीं, मैंने तो उसे कोई ऐसी बात नहीं कही थी।"

"ताली एक हाथ से नहीं बजती, बेटा ? तुमने उसे क्या कहा था ?

सब बातें साफ-साफ कहो !" स्वच्छ निर्मल सरोवर की तरह भरे हुये उनके हृदय की ममता को चोट अवश्य लगी, किन्तु उनका न्यायप्रिय मस्तिष्क बिना सारा हाल जाने बेटे की निर्दोषिता स्वीकार न कर सका।

अपनी उस पूजनीया माता के सामने भोला अब असत्य की शरण न ले सका। एक मिनट चुप रह कर, उसने धीरे-धीरे कहा—"हम सब को एक निबन्ध लिखने को मिला था। उस लड़के को मास्टर साहब ने सबसे ज्यादा नम्बर दिये थे। इसी के बारे में हम लोग बातचीत करते चले आ रहे थे। उससे कहा-सुनी होने लगी। मैंने उसे दोगला कह दिया। इस पर उसने मुझे पीटा। मैंने भी उसे मारा।"

"उसको सबसे ज्यादा नम्बर मिले, तो इसमें उसका क्या कसूर था? जो ज्यादा मेहनत करेगा, ज्यादा नम्बर पायेगा ही।"

भोला कोई उत्तर न दे सका, चुपचाप बैठा रहा।

"उसे ऐसी भद्दी गाली देकर, तूने अच्छा काम नहीं किया, बेटा! तुझे ऐसी गाली मुख से न निकालनी चाहिये थी। गाली बकना शरीफों का काम नहीं है।"

चुप रह कर भोला ने अपना दोष स्वीकार कर लिया।

"तेरा उससे मेल हुआ कि नहीं?"

"नहीं।"

"इस झगड़े में ज्यादा कसूर तुम्हारा ही है, इसलिए उससे माफी माँग कर मेल कर लो। किसी का दिल दुखाना अच्छा नहीं होता, बेटा!"

भोला स्तब्ध बैठा रहा।

"वह लड़का कहाँ रहता है?"

"यहीं करीब ही में रहता है।"

"तो फिर इसी वक्त उसके घर जाकर माफी माँग लो। इस वक्त ठीक न हो, तो सबेरे चले जाना।"

"अच्छी बात है, अम्मा।" मा की उस आज्ञा के सामने उसे सिर झुका देना पड़ा। विवेक की जीत हो गई, विरोधी दल पराजित हो गया।

मेज की ओर देख कर, सुभद्रा देवी ने कहा—"तुमने नाश्ता नहीं किया? अच्छा उठो, चलो खाना तैयार है।"

मा के पीछे-पीछे भोला कमरे से बाहर निकला। वर्षा की एक लहर से जिस तरह कूड़ा-करकट से भरा मैदान धुल कर साफ हो जाता है, उसी तरह उसका हृदय धुल कर साफ हो कर फिर चमकने लगा।

भोजन कर चुकने के बाद जब वह फिर अपने कमरे में वापस आया तो उसका मुख-मण्डल प्रसन्नता से खिला हुआ था। वे विकल भाव, जो उसके और दुर्गा के बीच पत्थर की दीवार की तरह आकर खड़े हो गये थे, बिलकुल दूर हो गये। दुर्गा के प्रति उसके हृदय में फिर वही सरल बालोचित-स्नेह जोर मारने लगा, जो कल तक विद्यमान था। उसने अपना मार्ग निश्चित कर लिया था। आरामकुर्सी पर लेट कर, थोड़ी देर विश्राम करके वह मेज के सामने जा बैठा। कागज निकाल कर वह दुर्गा को एक पत्र लिखने लगा।

पत्र समाप्त करके जब वह कुरसी से उठा, तो उसके हृदय में शान्ति हिलोरें ले रही थी, चेहरे से संतोष की रेखायें प्रस्फुटित हो रही थीं।

दूसरे दिन सबेरे उत्तागिर अपने नवयुवक मालिक का पत्र लेकर दुर्गादत्त के घर पहुँचा। बहुत-सी टेढ़ी-मेढ़ी गलियों के बाद उसे दुर्गा

का घर मिला। उस घर का दरवाजा उस समय बन्द था। बन्द दरवाजे के सामने खड़े होकर उसने आवाज लगाई—"दुर्गा बाबू!"

अन्दर दालान में एक चारपाई पर लेटा हुआ दुर्गा उस समय अपनी अंग्रेजी की रीडर की पुत्थियों में उलझा हुआ था। आवाज सुन कर, उसने उसी तरह पड़े-पड़े पूछा—"कौन है?"

"जरा बाहर आइये, बाबूजी।"

किताब एक ओर रख कर, उठ कर दुर्गा ने दरवाजा खोला।

"दुर्गा बाबू आप ही हैं?"

"हाँ।"

"भोलानाथ भैया की चिट्ठी लाया हूँ।" पत्र कुरते की जेब से निकाल कर उजागिर ने दुर्गा को दे दिया।

लिफाफा खोल कर दुर्गा पढ़ने लगा।

"*भोला बाबू ने आपको बुलाया है। जल्दी तैयार हो जाइये भैया।*"

"अच्छा बैठो, मैं अभी बतलाता हूँ।" पत्र पढ़ता हुआ वह भीतर चला गया।

पत्र में लिखा था—

"प्रिय मित्र, नमस्कार! कल की शोचनीय घटना में मेरा जो भाग था, उसके लिए मुझे बड़ा खेद है। मेरी माता ने मुझे आज्ञा दी है कि तुमसे क्षमा माँगू। भाई, मुझसे बड़ी गलती हुई। क्षमा करो! इस तरह के साधारण झगड़ों के कारण दोस्ती में फर्क आने देना मूर्खता है। मेरा दिल तुम्हारी तरफ से बिलकुल साफ हो गया है। तुम भी कल की बातें

भूल जाओ। कृपया इसी समय मेरे घर आने का कष्ट करो। मैं तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूँ।

तुम्हारा,
भोला।"

"किसकी चिट्ठी है, रे?" गोविन्दी ने चावल धोते हुये पूछा।

"उसी लड़के की चिट्ठी है, जिससे कल झगड़ा हुआ था।"

"क्या लिखा है?"

"उसने माफी माँगी है, और मुझे अपने घर पर बुलाया है।"

"तो चले न जाओ, बेटा।"

"जाना क्या ठीक होगा, अम्मा?"

"ठीक क्यों नहीं है? जरूर जाना चाहिये। अगर कोई अपनी गलती के लिये माफी माँगे, तो उसे माफ करना अपना धर्म है। अपना दिल सब की तरफ से साफ़ रखना चाहिये।

दुर्गा के हृदय का संशय दूर हो गया। एक साफ़ कुरता और धोती पहिन कर, सिर पर टोपी लगा कर, चप्पल पहिन कर वह घर के बाहर निकला और उजागिर के साथ भोलानाथ के बंगले की ओर चला।

बंगले पर पहुँच कर, दुर्गा को भोला के कमरे में बैठा कर उजागिर उसे बुलाने के लिये अन्दर चला गया। इधर-उधर दृष्टि दौड़ा कर वह भोला के उस साफ-सुथरे कमरे की सजावट देखने लगा। हलके नीले रंग से पुती हुई दीवारों पर महापुरुषों के चित्र टँगे हुये थे। फ़र्श पर एक साफ़ दरी बिछी हुई थी। खिड़की के सामने रखी हुई मेज पर एक ओर कुछ किताबें सजी हुई थीं, बीच में ताजे सुगंधित फूलों का गुल-

दस्ता रखा था। साफ़ पैड के सामने एक खूबसूरत कलमदान रखा हुआ था। मेज की बगल में पुस्तकों से भरी हुई शीशे की एक छोटी-सी आलमारी थी। उन दुर्लभ वस्तुओं की ओर देखते-देखते दुर्गा के हृदय में ईर्ष्या जोर मारने लगी। जो भोला के लिये है, वह उसके लिये क्यों नहीं है ?

"आ गये, दुर्गा ? नमस्कार !"

"नमस्कार।"

"मैंने तो समझा था कि शायद तुम न आओगे," एक कुरसी पर बैठ कर भोला ने कुछ झेंपते हुए कहा।

"आता क्यों न, भाई ? मुझे भी कल की बातों के लिये बड़ा अफ़सोस है।"

"जब मैं घर आया और अम्मा को सारा हाल मालूम हुआ, तो वह मेरे ऊपर बहुत खफ़ा हुईं। वह तो मुझे उसी समय तुम्हारे पास भेज रही थीं। लेकिन तबीयत ठीक नहीं थी, इसलिये नहीं आ सका।"

"जाने दो, भोला ! दोस्ती में ऐसी बातें हुआ ही करती हैं।"

"हाँ, ठीक है भाई ! अच्छा, उठो, चलो तुम्हें अम्मा ने अन्दर बुलाया है।"

"अन्दर चलूँ ?"

"चलो, यार, इसमें हर्ज क्या है ?"

"अच्छा चलो।"

दोनों उठ कर कमरे के बाहर निकले। अन्दर जनानखाने के एक दालान में एक बड़ी चटाई पर बैठी हुई सुभद्रा देवी रामायण पढ़ रही

थीं। गौर वर्ण के उनके दुबले-पतले शरीर पर एक सफेद साड़ी थी, आँखों पर सोने के फ्रेम का चश्मा लगा था। रामायण के पृष्ठों से दृष्टि हटा कर, उन्होंने उन दोनों की ओर देखा। हाथ जोड़ कर, सिर झुका कर दुर्गा ने उन्हें प्रणाम किया।

"खुश रहो, बेटा।"

सकुचाता हुआ दुर्गा चटाई पर बैठ गया।

"तुम्हारा नाम क्या है, बेटा?"

"मेरा नाम दुर्गादत्त है, माताजी," दुर्गा ने धीरे से कहा।

"दुर्गा को कुछ खिलाओ, भोला।"

"अच्छा, अम्मा।" भोला उस ओर सहन में चला गया।

"भोला को बड़ी जल्दी गुस्सा आ जाता है। उसकी बातों का ख्याल न किया करो, बेटा! तुम्हारी उम्र कितनी है?"

"अट्ठारह साल की, माताजी।"

"तुम भोला से बड़े हो। इसलिये उसे अपना छोटा भाई समझो।"

"हाँ, माताजी, भोला को मैं अपना भाई ही समझता हूँ।"

फलों और मिठाईयों से भरी हुई एक तश्तरी हाथ में लिये हुए, एक दासी सामने आकर खड़ी हो गई।

"तश्तरी इनके सामने रख दे, तुलसी! जल नहीं ले आई क्या?"

"जल अभी लाती हूँ, बहूजी!" दुर्गा के सामने तश्तरी रखकर वह चली गई।

"शरमाओ न, बेटा, खाओ।"

सिर झुका कर दुर्गा मिठाई खाने लगा। एक मिनट बाद भोला भी आकर शरीक हो गया।

"भोला, देखो, दुर्गा से तुम कभी लड़ाई न किया करो। तुमसे यह उम्र में बड़े हैं, इन्हें तुम अपना बड़ा भाई समझा करो। यह बहुत अच्छे लड़के मालूम होते हैं।"

"बहुत अच्छा, अम्मा।"

देखते-देखते तश्तरी साफ हो गई। तब दोनों ने जल पीकर हाथ-मुँह धोया।

उसी समय भोला की बहिन पूर्णिमा, बगल के कमरे से बाहर निकली, झिझकी, फिर सामने आई। वह भोला से एक साल छोटी थी। तपाये हुये सोने के-से उसके सुकोमल शरीर पर प्याजी रंग की रेशमी साड़ी थी, पैरों में मखमली स्लीपर थे। उसकी बगल में बिल्ली का एक सुन्दर बच्चा दबा हुआ था। दुर्गा के चेहरे की ओर वह एकटक देखने लगी।

"क्या है, बेटी?"

"कल मैंने तुम्हें जो पुस्तक दी थी, वह कहाँ है, अम्मा?"

"वह पुस्तक मेरी चारपाई पर तकिये के नीचे रखी हुई है। जाकर ले ले।"

चकित होकर दुर्गा पूर्णिमा की ओर देखने लगा। वह सुघर किशोरी उसे परिचित-सी जान पड़ने लगी। किन्तु उसने उसे पहले कहाँ देखा था, यह उसे याद न था।

लजाती हुई आँखों से एक बार दुर्गा की ओर देख कर, मुड़ कर, पूर्णिमा मा के कमरे की ओर चली गई।

"इन लोगों के लिये थोड़ी-सी इलायची दे जाना, बेटी।"

रुक कर, मुड़ कर, मा की आज्ञा सुन कर पूर्णिमा उस ओर चली गई।

"अब आज्ञा दीजिये, माताजी। स्कूल जाने का समय हो रहा है, देर हो जायगी।"

"इलायची तो खा लो, बेटा।"

"इलायची की तो कोई जरूरत नहीं है, माताजी!"

"अच्छा, जाओ बेटा! लेकिन देखो दुर्गा, कभी-कभी यहाँ जरूर आया करो। इसे अपना ही घर समझो।"

"अच्छा, माताजी, जरूर आया करूँगा। प्रणाम!"

"खुश रहो, बेटा!"

तब भोलानाथ के साथ दुर्गादत्त बाहर चला गया। जाते समय उसे ऐसा जान पड़ा, मानो उसकी कोई बहुमूल्य वस्तु पीछे छूटी जाती हो। वह वस्तु क्या थी? प्रयत्न करने पर भी दुर्गा यह न जान पाया।

पाँच मिनट के बाद पूर्णिमा जब इलायची लेकर वापस आई, तो सुभद्रा देवी के अतिरिक्त वहाँ कोई न था।

"रहने दे पूनो वह चला गया।"

कुछ निराश होकर पूर्णिमा अपने कमरे की ओर चली गई।

४

दुर्गा जब घर पहुँचा, तो प्रसन्नता से उसका चेहरा खिला हुआ था। गोविन्दी से उसने सुभद्रा देवी की बड़ी प्रशंसा की। सुभद्रा देवी के व्यवहार की बात सुन कर गोविन्दी के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा अंकुरित हो गई।

नहा-धोकर, खा-पीकर, कपड़े पहिन कर, पुस्तकें बगल में दाब कर दुर्गा घर से बाहर निकला। स्कूल जानेवाले मार्ग पर वह तेजी से चल पड़ा।

बीस मिनट में उसने पार्क में प्रवेश किया। निर्मल, सुनील गगन में सूर्यदेव तेजी से चमक रहे थे। उस प्रकाश में झलमलाते हुये अपने सिरों को हिला-हिलाकर पार्क में बच्चे, जवान और बूढ़े वृक्ष मस्ती से झूम रहे थे। शीतल बयार की लहरों में हिलोरें लेता हुआ, इमली और पीपल के छतनार वृक्षों की छाया में एक पगडंडी पर दुर्गा चला जा रहा था। आज उसे जो अभूतपूर्व सम्मान अनायास ही प्राप्त हुआ था, उसका नशा अभी उतरा न था।

सहसा वह स्थान सामने आ गया —वही स्थान जहाँ कल दो निर्दोष आत्माओं को एक सूत्र में बाँधनेवाली मैत्री घायल होकर चीत्कार कर उठी थी। उसकी ओर देख कर दुर्गा सिहर कर खड़ा हो गया। नशा एकाएक काफूर हो गया। कल की वह दुःखद स्मृतियाँ उसके मस्तिष्क में घुस-घुसकर ताण्डव-नृत्य करने लगीं। जख्म फिर हरे हो गये। उनकी असह्य टीस से उसका स्वाभिमान तड़पने लगा। लड़खड़ाते हुये पैरों को सँभाल-सँभाल कर दुर्गा आगे बढ़ने की कोशिश करने लगा, किन्तु दो-चार पग से अधिक न जा सका। तब पराजित होकर, पुस्तकें एक ओर पटक कर वहाँ लद्-से जमीन पर बैठ गया। किन्तु बैठने से चैन न मिला। तब पैर फैला कर, पुस्तकों पर सिर रख कर वह लेट गया। स्कूल ? नहीं, वह स्कूल न जा सकेगा। अवहेलनापूर्ण विनोद से भरी हुई सहापाठियों की सैकड़ों आँखों का सामना वह न कर सकेगा। अर्जी भी तो नहीं गई। जुर्माना होगा ? होने दो। रोज मा से उसे जो पैसे मिलते हैं, उन्हें बचा-बचा कर वह जुर्माना अदा कर देगा। स्कूल न जाने के विचार से थोड़ी-सी शान्ति मिल गई।

दस मिनट में उसकी तबीयत कुछ सँभल गई। तब वह उठ कर बैठ गया। अब क्या करना चाहिये ? दिन कैसे कटेगा ? किन्तु उस लम्बे-चौड़े बाग में मनोरंजन के साधन यथेष्ट थे। पुस्तकें लेकर उठ खड़ा हुआ और उधर उस कच्चे तालाब की ओर चला। दो मिनट में वह उसके तट पर था। बरसाती जल से तालाब भरा हुआ था। उस ओर मुर्गाबियों के कई जोड़े जल पर तैर रहे थे। इधर-उधर किनारों पर बैठे हुए मेंढक 'टर्र-टर्र' करते हुए वृष्टि की याचना कर रहे थे। एक ओर घास के सुकोमल फर्श पर बैठ कर दुर्गा उन जीवों की जल-क्रीड़ा देखने लगा।

सहसा सूर्य का वह प्रचंड प्रकाश लोप हो गया। आकाश में बादल उमड़ने लगे। बादलों की वह सुखद छाया क्रमशः प्रगाढ़ होने लगी। मेंढकों की कर्कश कंठ-ध्वनि ज़ोर पकड़ने लगी। पंख फैलाकर, मुर्गाबियों का एक जोड़ा एक ओर उड़ चला। यह देख कर दूसरा जोड़ा भी हवा से बातें करने लगा। दूसरे के बाद तीसरे ने भी पंख खोले। अब केवल एक जोड़ा बाकी रह गया। धायँ-धायँ! इस शब्द के साथ ही छर्रों के दो जलते हुए तीर भयंकर वेग से जल की ओर दौड़े। पंख फैलाकर, वे निरीह मुर्गाबियाँ जल पर लोट गईं। उनके आहत शरीर से रक्त की धारें निकल-निकल कर, जल से हिल-मिल कर सिसकने लगीं।

दुर्गा के भावुक हृदय पर चोट लगी। इधर-उधर क्रोधित दृष्टि दौड़ा-दौड़ा कर वह गोली चलाने वाले को खोजने लगा। उसकी वह चेष्टा निष्फल नहीं हुई। उसने देखा, उधर उस बांस की झाड़ी की आड़ से एक अंग्रेज ने यह सब किया था। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर, दुर्गा उठ खड़ा हुआ। उस समय उन निरीह पक्षियों के जीवन की सार्थकता-असार्थकता पर वह अपने ढंग से विचार कर रहा था।

थोड़ी देर तक इधर-उधर टहल कर, उसने पार्क के एक रमणीक लताभवन में प्रवेश किया। भाँति-भाँति के छोटे-छोटे पौधों से भरे हुए उस कुंज में एक छोटा-सा हौज था। हौज में रंग-बिरंग की बहुत-सी छोटी-बड़ी मछलियाँ थीं। हौज के एक किनारे पर बैठ कर कंकड़ियाँ फेंक-फेंक कर वह विश्राम करती हुई मछलियों को छेड़ने लगा। सचेत होकर, उछल-उछल कर मछलियाँ किलोलें करने लगीं। तन्मय होकर वह नृत्य देखने लगा।

पार्क के मध्य में बनी हुई साफ सुथरी इमारत में एक सार्वजनिक

पुस्तकालय था। एक बार एक मित्र के साथ वह उस पुस्तकालय में गया था। भाँति-भाँति की पुस्तकों से लदी हुई बृहदाकार आलमारियों से भरे हुए उस पुस्तकालय को देख कर उसके ऊपर आतंक-सा छा गया था। किन्तु वहाँ थोड़ी ही देर में उसे विचित्र शान्ति प्राप्त हुई थी।

दालान में जाकर, एक ओर पड़ी हुई मेज पर अपनी पुस्तकें सावधानी से रख कर, साहस करके उसने धीरे-धीरे अन्दर प्रवेश किया। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से दृष्टि उठा-उठा कर कई व्यक्तियों ने उसकी ओर देखा, किन्तु उसने किसी की ओर न देखा। उधर लम्बी चौड़ी मेज के उस ओर जो कुरसी खाली पड़ी थी, उस पर जाकर वह बैठ गया। कुरसी के सामने ही मेज पर अंग्रेजी का जो सचित्र साप्ताहिक पड़ा था, उसे उठा कर वह उलटने-पलटने लगा। कहीं किसी पार्टी का चित्र था, कहीं टेनिस का, कहीं किसी अभिनेत्री का, कहीं फौजी अफसर का। देर तक वह उन चित्रों को देखता रहा। चित्रों को देखते-देखते जब उसका जी ऊब गया, तो उसने एक लेख पढ़ना शुरू किया। किन्तु लेख की भाषा उसकी समझ में न आई। तब उसने साप्ताहिक एक ओर रख दिया और पत्रिका उठा ली। पत्रिका हिन्दी की थी। पत्रिका में दिये चित्रों को देख कर वह एक लेख पढ़ने लगा। वह लेख एक भ्रमण का सचित्र वर्णन था। उसका मन लग गया। बाहर जोरों की वृष्टि हो रही थी। इधर-उधर खुले हुये दरवाजों से आती हुई शीतल बयार दुर्गा के शरीर से लिपट-लिपट कर उसके हृदय को उमंग से भरने लगी। एकाग्रता की दशा में अपने को भूल कर उस रसिक यात्री के साथ काश्मीर के सुरम्य वन-उपवनों में गिरि-श्रेणियों पर वह विचरण करने लगा।

यात्रा खत्म हो गई। लेखक महोदय अपने घर लौट गये। दुर्गा भी मानो जादू के बल से उस पुस्तकालय में अपनी उस कुरसी पर जा डटा। अब एक कहानी उसकी आँखों के सामने थी। शीर्षक ही में उसकी

आँखें उलझ गईं। पहली पंक्ति ने उसे मंत्र-मुग्ध कर दिया। एक ही साँस में वह एक कालम पढ़ गया। पुस्तकालय सहसा तीव्र प्रकाश से भर गया। सुरूर से भरी हुई आँखों को कहानी के स्वर्णजाल से निकाल कर उसने उस दरवाजे से बाहर झाँका। वृष्टि समाप्त हो चुकी थी। सूर्य का प्रखर-प्रकाश चारों ओर फैला हुआ था। हरी-हरी घास पर पड़ी हुई जल की नन्हीं-नन्हीं बूँदे बहुमूल्य मोतियों की अगणित लड़ियों की भाँति चमक रही थीं। भाँति-भाँति के अगणित पक्षियों के कलरव से वायुमण्डल गूँज रहा था। कई क्षण यह सब देख सुन कर वह फिर उस कहानी के रस में डूब गया।

कहानी जब खत्म हो गई तब एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर उसने घड़ी की ओर देखा। तीन बज कर पचास मिनिट हो गये। तुरन्त कुर्सी से उठ कर वह शीघ्रता से बाहर निकला और दालान में मेज पर रखी हुई अपनी पुस्तकें लेकर, झपट कर घर की ओर चला। सामने वह दो लड़के कौन चले जा रहे हैं? उनमें से एक तो बेचूलाल मालूम होता है। हाँ, वही है। और वह दूसरा? होगा कोई। बेचूलाल कहीं देख न ले? रुक जाना ही ठीक होगा। तब वह नीम के एक पेड़ की आड़ में खड़ा हो गया।

वे दोनों दृष्टि से ओझल हो गये। वृक्ष की आड़ से निकल कर सड़क छोड़ कर वह एक पगडण्डी पर चलने लगा।

पन्द्रह मिनट में वह घर के द्वार पर पहुँच गया। दरवाजा बन्द था, किन्तु साँकल नहीं चढ़ी थी। धीरे से किवाड़ खोल कर अन्दर प्रवेश किया। आँगन में एक ओर बैठी हुई गोविन्दी मसाला पीस रही थी।

"आ गये, बेटा?" बेटे की ओर देखते हुये उसने पूछा।

"हाँ!" सुधा शीघ्रता से कोठरी में घुस गया। मा की हृदय में

घुस जानेवाली उन तीव्र आँखों का सामना करने की शक्ति इस समय उसमें न थी। उसके और उसकी स्नेहमयी जननी के बीच से कल जो असत्य का परदा उठ गया था, वह आज उसी के कारण फिर गिर पड़ा।

कोठरी में जाकर, पुस्तकें सन्दूक पर रख कर, कपड़े उतार कर, चारपाई पर लेट कर छत की ओर देखता हुआ वह विचारों में डूब गया। उसका सरल मन आज अनायास ही कृत्रिमता का जो परदा बुनने लगा था, उसे अभी इतना बड़ा करना था कि वह उसे कौतूहल की दृष्टि से बचा सके।

चार रोज़ दुर्गा पाठशाला से गैरहाजिर रहा। नित्य स्कूल जाने के लिए वह घर से पुस्तकें लेकर निकलता और पार्क में इधर-उधर घूम कर या पुस्तकालय में अध्ययन करके दिन काट देता। इस दिनचर्य्या से उसे जितना आनन्द प्राप्त हो रहा था, उतना आज तक किसी बात से प्राप्त नहीं हुआ था। स्कूल में गैरहाजरी का भय तो उसे अवश्य सताता, किन्तु उपस्थित होने का भय उससे प्रबल था।

पाँचवें दिन की बात है। सवेरे का समय था। दुर्गा बाजार गया हुआ था। उसके पिता पण्डित हरिदत्त मिश्र अन्दर खाट पर बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। आप एक मिडिल स्कूल में अध्यापक थे। वयस आपकी चालीस से अधिक न थी।

"दुर्गादत्त! दुर्गादत्त!" किसी ने दरवाजे के बाहर से आवाज़ लगाई।

"कौन है?" मुँह से निगाली हटा कर पण्डितजी ने पूछा।

"दुर्गादत्त का एक साथी हूँ। दुर्गा नहीं है क्या?"

"दुर्गा बाजार गया हुआ है। अन्दर आ जाओ, दरवाजा खुला है।"

तब दरवाजा खोल कर वह लड़का अन्दर आया। हाथ जोड़ कर उसने प्रणाम किया।

"आशीर्वाद! कहो, दुर्गा से मिलने आये हो क्या?"

"जी हाँ, मास्टर साहब ने मुझे भेजा है।"

"क्यों, क्या बात है?"

"मास्टर साहब ने पूछा है कि दुर्गा स्कूल क्यों नहीं आते?"

"क्यों, दुर्गा स्कूल नहीं जाता क्या?"

"नहीं, चार रोज से गैरहाजिर रहते हैं। कोई अर्जी भी नहीं आई, इसलिये हमारे दर्जे के अध्यापकजी ने मुझसे कहा कि जाकर देखो, क्या बात है।"

"अच्छा, अब वह यह रंग पकड़ रहा है! पण्डितजी का गोरा चेहरा क्रोध से लाल हो गया।

यह भयावह वार्त्तालाप सुन कर गोविन्दी रसोई घर से बाहर निकल आई और शंकित दृष्टि से उस दैत्य-रूपी बालक की ओर देखने लगी।

हाथ में निगाली पकड़े हुये गोविन्दी के चेहरे की ओर तीव्र दृष्टि से देख कर पण्डितजी ने कहा—"सुन रही हो अपने सपूत का हाल?"

गोविन्दी का मातृ-हृदय काँप उठा। एक क्षण में सँभल कर उसने कहा—"लेकिन वह तो रोज ठीक वक्त पर घर से जाता है।"

"घर से निकल कर ही तो कोई स्कूल नहीं पहुँच जाता? घर से निकल कर दिन भर आवारगी भी तो की जा सकती है!"

"नहीं, दुर्गा तो ऐसा लड़का नहीं है।"

"अपने दही को कोई खट्टा कहता है ? दुलार अच्छा होता है, लेकिन इतना न बढ़ जाना चाहिये कि सच्ची बात पर भी विश्वास न हो। लेकिन तुम तो उसे सिर पर चढ़ाये हुये हो।"

"क्या अन्धेर करते हो! मैं उसे सिर पर चढ़ाये हुये हूँ ?"

"तुम तो मूर्खा हो! तुमसे बात करना फिजूल है! क्रोध से काँपते हुये पण्डितजी कश-पर-कश खींचने लगे।

सहसा हाथ में एक बड़ी-सी लौकी लिये हुये दुर्गा ने घर में प्रवेश किया। अपने उस सहपाठी की ओर, फिर पिता की ओर देख कर वह भय से काँप उठा। वह ठिठक कर सहन में खड़ा हो गया।

"दुर्गा!"

"जी हाँ!"

"चार रोज से तुम स्कूल क्यों नहीं जाते ?"

दुर्गा निस्तब्ध खड़ा रहा।

"बोलता क्यों नहीं, सुअर ?"

दुर्गा फिर चुपचाप खड़ा रहा। तब क्रोध से काँपते हुये चारपाई से उतर कर पंडितजी उसकी ओर झपटे। फिर उसके सिर और पीठ पर थप्पड़ों और घूंसों की वर्षा होने लगी। उसकी आँखों से आँसू की धारें बहने लगीं। किन्तु वह चीखा नहीं—मूर्त्ति की भाँति अचल, निस्तब्ध खड़ा रहा। झपट कर गोविन्दी ने उसे बाहु-पाश में बाँध लिया। अब गोविन्दी की पीठ पर घूंसों का प्रहार होने लगा। वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। मा की आँखों के आँसू पुत्र के आँसुओं में घुल-मिल गये। पावन स्नेह अकथनीय मर्म-वेदना से लिपट कर आहें भरने लगा।

यह करुण काण्ड देख कर, भयभीत होकर वह लड़का, जो शिकायत लेकर आया था, रफूचक्कर हो गया। उस समय दुर्गा के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति थी, किन्तु प्रसन्नता भी कम न थी। पाठशाला में अध्यापकों से दुर्गा को सम्मान पाते देख कर कितनी ही बार उसका हृदय ईर्ष्या से जल उठा था।

क्रोध का आवेग जब कुछ कम हुआ, तो पंडितजी चारपाई पर जा बैठे और कटु वाक्यों की वर्षा करने लगे।

"आवारगी सूझी है बेईमान को! खाल उधेड़ कर धर दूँगा! यह औरत जो करे, कम है। सिर पर चढ़ा-चढ़ा कर इतना शोख कर दिया। दुनिया में गोया इन्हीं के लड़का है, और किसी के नहीं है। गली-गली भीख माँगेंगे बच्चा और क्या करेंगे। घर से निकाल दूँगा तब देखूँगा कि बच्चू को कहाँ ठिकाना मिलता है...।"

सहसा ज़ोर लगा कर मा से अलग होकर दुर्गा खुले हुये दरवाजे की ओर झपटा। हाथों को फैलाये हुये गोविन्दी उसके पीछे दौड़ी।

"ठहर हरामजादी, कहाँ जाती है? जाने दे उस शैतान को। मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता।"

हठात् रुक कर, लद-से जमीन पर बैठ कर, आँचल में मुख छिपा कर गोविन्दी फफक-फफक कर रोने लगी। उस समय उसकी दशा उस चीत्कार करते हुये पक्षी की-सी हो गई, जिसके बच्चे को फँसा कर निर्दय व्याध लिये जाता हो।

५

भगवद्‌गीता के पृष्ठों से दृष्टि उठा कर पुजारीजी ने सामने खड़े हुये दुर्गा के आर्द्र मुखमण्डल की ओर देखा।

"कैसा जी है, दुर्गा ?"

हरा जख्म करुणा की चोट खाकर जलने लगा। रुके हुए आँसू स्वतन्त्र होकर वेग से बह चले। पुजारीजी की चिन्ता बढ़ गई।

"यहाँ आओ, बेटा। क्या बात है ?"

धीरे-धीरे सीढ़ियों पर चढ़ कर पुजारीजी के समीप जाकर दुर्गा एक ओर बैठ गया।

"आज फिर किसी से झगड़ा हुआ था क्या, दुर्गा ?"

"नहीं, बाबू ने...मुझे बहुत पीटा है।"

"बाबू ने पीटा है ! क्यों, किस बात पर मारा ?"

आँसू बहाता हुआ दुर्गा चुपचाप बैठा रहा।

"बोलो बेटा, तुमने क्या कसूर किया था ?"

"कई रोज...मैं स्कूल...नहीं...गया...इसलिये..."

"स्कूल तुम क्यों नहीं गये ? तबीयत अच्छी नहीं थी क्या ?"

दुर्गा निस्तब्ध रहा।

"बोलो बच्चा, स्कूल क्यों नहीं गये ?"

"बाबा, मुझे बड़ी शर्म मालूम होती थी।"

"शर्म मालूम होती थी ?" दुर्गा के मन की वास्तविक दशा समझकर पुजारीजी के हृदय में अपार दया हिलोरें लेने लगी।

"लेकिन बेटा...पाठशाला तो तुम्हें जरूर जाना चाहिये था। पढ़े-लिखे बिना काम कैसे चलेगा ?"

"नहीं बाबा, अब...मैं स्कूल न जाऊँगा।"

"स्कूल न जाओगे, तो क्या करोगे ? अभी नहीं सही, पर आगे कैसे काम चलेगा ?"

"मैं घर पर...पढ़ूँगा, बाबा।"

"घर पर पढ़ने से तुम्हें नौकरी तो न मिलेगी।"

"नौकरी मैं...नहीं करूँगा।"

"नौकरी नहीं करोगे ? अच्छा, इस समय यह सब रहने दो। बोलो, अभी तक कुछ खाया-पिया है कि नहीं ?"

दुर्गा ने संकोचवश कोई उत्तर न दिया।

"अच्छा बेटा, चलो, थोड़ा-सा प्रसाद खा लो, अभी भोजन बनाऊँगा, तो यहीं खाना।"

मण्डप में जाकर, पुजारीजी ने दुर्गा को दो लड्डू और दो केले दिये। मन मारे हुये एक ओर बैठकर वह प्रसाद खाने लगा। पुजारीजी फिर अध्ययन में तल्लीन हो गये।

मध्याह्न का समय था। भोजन कर चुकने के बाद पुजारीजी बारह-दरी में एक चटाई पर लेटे हुए गा-गाकर रामायण पढ़ रहे थे। समीप ही बिछे हुए कम्बल पर लेटा हुआ, रामायण सुनता हुआ, दुर्गा वाटिका की ओर देख रहा था।

सहसा उस ओर से आकर गोविन्दी सामने खड़ी हो गई। रामायण से दृष्टि हटा कर, गोविन्दी के सूखे हुए चेहरे की ओर देखते हुए पुजारी जी ने कहा—"आओ गोविन्दी, बैठो।"

ऊपर बारहदरी में आकर गोविन्दी एक ओर चटाई के समीप बैठ गई। दुर्गा ने आँखें बंद कर लीं।

"क्या हाल-चाल है, गोविन्दी?"

"क्या हाल-चाल बताऊँ, बाबा। जो कुछ कर्म में लिखा है, भोग रही हूँ।" उसकी आँखों में आँसू छलक आए।

"आज इतना झगड़ा क्यों हुआ, बेटी?"

दुर्गा कई दिन स्कूल नहीं गया। आज सवेरे एक लड़के ने आकर उनसे शिकायत कर दी। बिगड़ कर उन्होंने दुर्गा को पीटा। मैं इसे बचाने लगी, तो उन्होंने मुझे भी खूब मारा?"

"उसने तुझे भी मारा।"

"हाँ, बाबा। यह भाग कर यहाँ चला आया, तो वह भी बिना कुछ खाये-पिये पढ़ाने चले गये।"

"तो तुमने भी अभी तक कुछ खाया-पिया न होगा?"

"नहीं, बाबा, आज तो घर में चूल्हा ही नहीं जला।"

"राम-राम यह सब तो बड़ा खराब हुआ।"

"अभी तक घर में पड़ी थी। जब जी बहुत घबराने लगा, तो इसे खोजने निकली।"

"दुर्गा, देख तेरी मा आई है।"

करवट बदल कर, आँखें खोल कर, एक बार मा के चेहरे की ओर देख कर उसने फिर आँखें बन्द कर लीं।

"उठो बेटा! देखो गोविन्दी ने अभी तक भोजन भी नहीं किया।"

उठ कर दुर्गा फ़र्श की ओर ताकने लगा।

"अब घर जाओ, दुर्गा। तुम्हारी मा बहुत दुखी है।"

"अब मैं...घर न जाऊँगा, बाबा!"

"घर न जाओगे? क्यों न जाओगे, बेटा?"

"मैं घर से निकाल दिया गया हूँ। अब न जाऊँगा।"

गोविन्दी ने चिन्तित स्वर में कहा—"उन्होंने तुझे घर से तो नहीं निकाला था, बेटा। गुस्सा किसे नहीं आता? तेरी भलाई के लिये ही उन्होंने तुझे पीटा था। अपने बच्चों को सभी पीटते हैं, भैया!"

"नहीं, अम्मा...अब मैं न जाऊँगा। बाबू मेरा मुँह...नहीं देखना चाहते।"

"यह तो उन्होंने गुस्से में कह दिया था। गुस्से में सभी आयँ-बायँ बकते हैं।"

"नहीं...मैं न जाऊँगा।"

"देखो दुर्गा, नादानी न करो।"

पुजारीजी ने कहा—"मा-बाप से लड़-झगड़ कर दुनिया में कोई सुखी नहीं रह सकता। बाप को जाने दो। मा का मुँह देखो, इसकी बात मानना तुम्हारा धर्म है।"

दुर्गा ने कोई उत्तर न दिया। किन्तु उसकी गम्भीर मुद्रा ने अटल

निश्चय की सूचना दी।

तब गोविन्दी की ओर देखते हुए पुजारीजी ने कहा—"इस समय इसे यहीं रहने दो, बेटी। अब तुम घर जाओ। यहाँ इसे किसी बात की तकलीफ न होगी।"

"इसने कुछ खाया-पिया कि नहीं, बाबा?

"हाँ, यह भोजन कर चुका है।"

"अच्छा, बाबा, जाती हूँ। देखिये, इसे यहाँ से कहीं जाने न दीजिएगा।"

"नहीं, गोविन्दी, इसे कहीं न जाने दूँगा। इतमीनान रक्खो।"

पुजारीजी के पैर छूकर, उठ कर, एक बार दुर्गा के मुख की ओर दर्द-भरी आँखों से देख कर गोविन्दी चली गई।

पुजारीजी फिर अध्ययन में डूब गये। लेट कर, आँखों के आँसू पोंछ कर दुर्गा फिर वाटिका की ओर देखने लगा। वाटिका में उस समय छाया और प्रकाश का खेल हो रहा था। आकाश में उमड़ते हुए बादल कभी सूर्य को छिपा लेते, कभी अलग हट जाते। वाटिका के वृक्ष और पौधे शीतल मंद समीर के सुमधुर स्पर्श से उन्मत्त हो-होकर झूम रहे थे। भाँति-भांति की, रंग-बिरंग की सुन्दर तितलियाँ फूलों का रस ले-ले कर इधर-उधर भाग रही थीं। किन्तु यह मनोमुग्धकारी अभिनय दुर्गा की आँखों को न जंचा।...

पंडित हरिदत्त मिश्र निश्चित समय से एक घण्टा पहले ही पाठ-शाला पहुँच गये। स्कूल उस समय बिलकुल सूना पड़ा था। हाँ, रामा-धीन दालान में झाड़ू लगा रहा था।

"पालागी महाराज" झाड़ू चलाते हुए रामाधीन ने कहा।

"आशीर्वाद।"

"आज इतने सवेरे कैसे आ गये, पंडितजी?"

"ऐसे ही चला आया। घर पर कोई काम न था, सोचा स्कूल में ही चल कर बैठूँ।"

कमरे से एक कुरसी निकाल कर रामाधीन ने दालान में रख दी। एक दीर्घ निःश्वास खींच कर पंडितजी बैठ गये। पेट में चूहों की दौड़ शुरू हो गई।

साढ़े नौ बजा। लड़कों की टोलियाँ आने लगीं। देखते-देखते स्कूल भर गया। बाल-सुलभ कोलाहल जोर पकड़ने लगा। पंडितजी के अभ्यस्त कानों को आज यह शोर बहुत बुरा मालूम हो रहा था। चूहों की दौड़ क्रमशः ज़ोर पकड़ रही थी। बिना खाये-पिये, वह जबरदस्ती घर से चले आयें, लेकिन गोविन्दी का क्या यह धर्म न था कि उन्हें जबरदस्ती रोक लेती, जबरदस्ती खिलाती-पिलाती? दिखलाने के लिये, सिर्फ दो बार रोकने की कोशिश करने ही से क्या उसका फ़र्ज अदा हो गया? लेकिन वह तो बेटे पर जान देती है, उनकी उसे क्या परवाह है। दुर्गा! सारी आफत की जड़ बस यही दुर्गा है। वही तो गोविन्दी और उनके बीच सारे संसार की विघ्न-बाधाएँ लेकर पन्द्रह वर्ष से डटा हुआ है। आह वह दिन! वह दिन कैसा मुबारक था, जब माघ की उस अलसाई हुई दोपहरी में उन्होंने उसके सामने अपना दिल खोल कर रख दिया था। गोविन्दी ने लज्जा से सिर झुका लिया था। फिर बहुत जिद करने पर उसने अनुमति दे दी थी। उस समय क्या वह जानते थे कि वह अबोध शिशु, जिसकी वह प्रतीक्षा कर रही थी, बिना किसी विघ्न-बाधा के उनके उस छोटे से संसार में आकर, उनके हक पर कब्जा जमा

लेगा, उन्हें निर्वासित कर देगा ? ईश्वर ने अगर उन्हें यह शक्ति दी होती कि वह भविष्य के इस संकट की बात जान लेते, तो क्या गोविन्दी से वह सर्वनाशकारी प्रस्ताव करते ? न करते, न करते। खैर...जाने दो इस बात को।

घंटा बजा। विद्यार्थीगण उछलते-कूदते, शोर करते दरजों में घुसे। पंडितजी ने अपने दरजे में प्रवेश किया। कुरसी पर बैठ कर, हाजिरी लेकर, गणित की पुस्तक खोल कर उन्होंने एक सवाल बोल दिया। लड़के उस सवाल की गुत्थियों में उलझ गये। उदर-देव की कायँ-कूयँ फिर सुनाई देने लगी। अगर थके-माँदे शरीर को आराम न मिले, तो घर किसलिये है ? नाक में दम करने के लिये ? उनकी वह पहली स्त्री कितनी भली थी! वह सुन्दर तो न थी, किन्तु सेवा कितनी करती थी। दिन भर कोल्हू के बैल की तरह काम करने के बाद भी रातों में घंटों उनके पैर दबाती, सिर में तिल्ली का तेल मलती। किन्तु वाह री किस्मत! तुझसे एक सरल, सत्यवादी, परिश्रमी युवक का सुख न देखा गया। दस दिन के साधारण ज्वर ही ने उसे खा लिया। मिडिल की विकट परीक्षा में पतिदेव के उत्तीर्ण होने की खुशखबरी भी वह न सुन पाई, मन में लालसा लिये हुए परलोक चली गई। उफ़, जाने दो!... गोविन्दी से उन्हें क्या मिला ? बदनामी, महज बदनामी। न घर के रहे न घाट के। घर वाले उनकी सूरत से नफरत करते हैं, बिरादरी वाले कभी शादी-ब्याह में भी नहीं पूछते। अड़ोसी-पड़ोसी अंगुली उठाते हैं, यार-दोस्त मन में हँसते हैं। यह सब कुछ न था, वह हँसी-खुशी से सब सह लेते अगर...दुर्गा...न होता। दुर्गा...आवारा, शैतान। दूसरे का हक मारने वाला दुर्गा। इससे ज्यादा वह क्या हो सकता है ? उसका खून उनका खून नहीं है। जिसकी जाति से किसी को फायदा न पहुँचे, उसका संसार में पैदा होना व्यर्थ है—सरासर व्यर्थ है। एक जम्हाई आई, एक क्षण के

बाद दूसरी आई, तीसरी आई, चौथी आई, फिर आँखें स्वतः बन्द हो गईं, पंडितजी ऊँघने लगे।

सवाल हल हो गया। बिल्ली को गायब पाकर चूहे ताण्डव-नृत्य करने लगे। पण्डित जी की निद्रामग्न प्रतिमा की ओर देख-देख कर लड़के कानाफूसी करने लगे। फिर चुटकी-काटना और चपतबाजी शुरू हो गई। देखते-देखते कानाफूसी कोलाहल में परिणत हो गई। चौंक कर पण्डितजी ने आँखें खोलीं। चढ़ी हुई लाल आँखों से उन्होंने विद्यार्थियों की ओर देखा। दरजे में सन्नाटा छा गया।

फिर जम्हाई आई। पण्डितजी फिर ऊँघने लगे। चूहे लस्त-पस्त होकर हाँफने लगे।

किसी तरह दोपहर की छुट्टी का घंटा बजा। पंडितजी की जान में जान आई। वह दरजे से बाहर निकले। लड़कों के कर्कश स्वर से कान के परदे फटने लगे। बाकी दिन कैसे कटेगा? अब तो नहीं सहा जाता, सहन-शक्ति की भी हद होती है। हेड मास्टर के पास जा कर, छुट्टी लेकर पंडितजी घर की ओर चले।

वह खाना लिए बैठी होगी। सोचती होगी, झकमार कर जल्दी लौटेंगे। यहीं पर तो उसकी जीत हो जाती है। लेकिन घर लौटना एक बात है, भोजन कर लेना दूसरी बात है। इस समय भोजन करके क्या होगा? मुफ्त में तबीयत खराब हो जायगी। उसने भी खाना न खाया होगा। खाये, चाहे न खाये। उसकी सौ-दफा गरज हो खाये, न गरज हो न खाये। यहाँ तो खाने से रहे। वह ज़िद करेगी, करने दो। रोये-गायेगी, रोने दो। यहाँ मोमबत्ती नहीं हैं कि आँच लगते ही पिघल जायँ। नहीं खाना-पीना फिजूल है। हाँ, चारपाई पर लेट कर थोड़ी देर तक आराम कर लेना जरूरी है। शाम के वक्त देखा जायगा।

घर सामने आ गया, पर यह क्या दरवाजा क्यों बन्द है ? वह कहाँ चली गई ? ऐसा गर्व ! ऐसा मान ! बिलकुल छुई-मुई की हालत है। उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे। वाह-वाह ! वाह ! यह घर है या नरक ? हाँ,नरक है, नरक ! ईमानदार आदमी, सच्चा आदमी, सीधा आदमी यहाँ कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता—हर्गिज नहीं रह सकता। लेकिन कर्म में जो कुछ लिखा है, वह अमिट है।

दो-तीन मिनट के बाद गोविन्दी सामने आती हुई दिखाई दी। तुरन्त द्वार से हट कर, मुख फेर कर पण्डितजी दीवार की ओर देखने लगे। सहमी हुई, द्वार के समीप जाकर, दरवाजा खोल कर वह अन्दर चली गई। तब पण्डितजी ने भी घर के भीतर प्रवेश किया। सामने दालान में गोविन्दी मन मारे बैठी हुई थी।

सहन में खड़े होकर, उसकी ओर क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखते हुये पण्डितजी ने पूछा—"कहाँ गई थी तू !"

गोविन्दी चित्रलिखित-सी निस्तब्ध बैठी रही।

"बोलती क्यों नहीं ? मुँह में छेद नहीं है क्या ?"

अब खामोशी बुद्धि के विरुद्ध थी। विवश होकर उसने धीरे से कहा—"जरा...दुर्गा को खोजने...चली गई थी।"

"दुर्गा को खोजने गई थीं ! लड़के की इतनी फिक्र है, मेरी जरा भी परवाह नहीं ?"

"बेमतलब क्यों बिगड़ रहे हो ? वह नाराज होकर गया था, इसलिये मुझे डर लगा कि वह बहक कर कहीं इधर-उधर न चला जाय।"

"लड़का सब कुछ है, मैं कोई नहीं हूँ। खाना बनाया कि नहीं ?"

"कोई खानेवाला नहीं था, तो किसके लिए बनाती ?"

"मैं क्या मर गया था ?"

"क्यों फिजूल आयँ-बायँ बकते हो ? तुम बिगड़ कर चले गये थे, मैंने समझा कि शायद छुट्टी होने के पहले न लौटोगे। इसलिये खाना नहीं बनाया।"

"ऐसी समझ पर रोना चाहिये।"

"बिगड़ो मत, चित्त स्थिर करो, बैठो। अभी खाना बनाये देती हूँ।"

"मुझे तुम्हारे खाने की कोई जरूरत नहीं है।...दुर्गा कहाँ है ?"

"बाबाजी के यहाँ है।...मैंने बहुत मनाया, लेकिन वह नहीं आया।"

"देखो, मैं तुमसे आज एक बात साफ-साफ कहे देता हूँ। उस लड़के को मैं अब हर्गिज न आने दूँगा। या तुम यहाँ रहो, या लड़के को लेकर अलग रहो। अगर तुम्हें यहाँ रहना है, तो उसे पास मत फटकने दो। आइन्दा अगर तुम उससे मिलने जाओगी, तो मैं तुम्हारा कभी मुँह न देखूँगा।" क्रोध से उबलते हुये, कोठरी में जाकर पंडितजी खाट पर चित लेट गये।

६

दुर्गा को घर से निकले हुये एक पक्ष बीत गया, किन्तु वह लौट कर नहीं आया। गोविन्दी न उसे बुला सकी, न स्वयं देखने जा सकी। अपने पतिदेव की प्रकृति से वह भली भाँति परिचित थी। उनकी आज्ञा पत्थर की लकीर होती थी, उसके विरुद्ध चल कर फिर उनसे किसी प्रकार के सहयोग की आशा आकाश-कुसुम की कामना के समान थी। कितनी बार उसे आश्चर्य हुआ था कि ऐसा सीधा, ऐसा सच्चा आदमी इतना जिद्दी, इतना प्रतिशोधप्रेमी क्यों है। किन्तु सृष्टि की अगणित, अज्ञेय समस्याओं की तरह वह इस पहेली को भी हल न कर सकी। उनकी असंगत धारणाओं के सामने सिर झुका देने के अतिरिक्त उसके लिये और कोई उपाय न था। इसके कारण उसे विकट मानसिक पीड़ा सहनी पड़ती। उसकी निर्विकार आत्मा चीत्कार कर उठती, बन्दी मन स्वतन्त्रता के लिए तड़पने लगता, किन्तु एक मुद्दत तक पिंजड़े में बन्द रहने के बाद असंतुष्ट पक्षी में स्वतंत्रता को अपनाने की शक्ति भी तो नहीं रह जाती।

पतिदेव की संगति में उसे जिस अभाव का अनुभव होता था, उसकी पूर्ति दुर्गा के द्वारा हो जाती थी। वही अपनी सरल मुस्कान से, निष्कपट भाव-भंगी से, बालोचित हठ से उसके तिमराच्छादित मन को निर्मल ज्योत्स्ना से भर देता था, वही अपने प्रेमालिंगन से उसकी उद्वेलित आत्मा को थपकियाँ दे-दे कर सुला देता था। किन्तु अब तो उसका वह सहारा भी छिन गया। अब वह क्या करे? किससे अपना दुःख-दर्द कहे?

मृतक के समान गोविन्दी जीवन व्यतीत करने लगी। खाना-पीना उसे अच्छा न लगता, हँसी उसके होठों पर न आती, सोते समय भी चैन न मिलता। भयावह स्वप्न उसे आ-आ कर तंग करने लगते, रह-रह कर वह जाग पड़ती। पंडितजी की सेवा वह नित्य पहले की तरह करती, किन्तु उसके हृदय का घाव पकता जाता था।

एक दिन तीसरे पहर उसे जाड़ा मालूम हुआ, फिर ज्वर चढ़ आया। खाट पर लेट कर वह मछली की तरह तड़पने लगी। पंडितजी पाठशाला से लौटे, दरवाजा बन्द था। साँकल पीट-पीट कर वह चिल्लाने लगे—"दरवाजा खोलो! दरवाजा खोलो!"

अर्द्धचेतना की दशा भंग हुई। पंडितजी की आवाज सुन कर, थर-थर काँपते हुये शरीर को अच्छी तरह कम्बल में लपेट कर गोविन्दी किसी तरह चारपाई से उतरी और लड़खड़ाती हुई दरवाजे की ओर चली।

खड़खड़ाहट जोर पकड़ रही थी। उसमें अब क्रोध आ गया था। वह कर्कश शब्द उसके कानों पर आघात कर पीड़ा के भार को बढ़ाने लगा।

"खोलती हूँ", उसने क्षीण स्वर में कहा।

किन्तु खटखटाहट बराबर जारी रही।

दरवाजा खुला। भौंहें सिकोड़े हुये, पंडितजी ने भीतर प्रवेश किया।

सोती रही होगी ? यह सोने का वक्त है ? किन्तु सोने के सिवाय उसे और क्या काम है ? दिन भर काम में पिसा रहना तो बस उन्हीं का काम है। यह क्या ? वह कम्बल क्यों ओढ़े हुये है ? उसके पैर क्यों लड़खड़ा रहे हैं ? तब पंडितजी का माथा ठनका। पाँसा उल्टा पड़ा। अब तो मान की बिलकुल गुन्जाइश नहीं।

कोठरी में प्रवेश कर के गोविन्दी खाट पर आँखें मूँद कर पड़ रही।

"कैसी तबीयत है ?" चिन्तित भाव से उसके चेहरे की ओर देखते हुये पंडितजी ने पूछा।

"जाड़ा लग रहा है, बुखार चढ़ आया है," आँखें खोल कर गोविन्दी ने धीरे से कहा।

"बुखार आ गया ?" हाथ रख कर पंडितजी ने देखा। उसका मत्था तवे की तरह जल रहा था।

"अच्छा, अभी जा कर वैद्यजी को बुलाये लाता हूँ। देख कर दवा देंगे, तो बहुत जल्दी ज्वर उतर जायगा। आजकल मौसम भी अच्छा नहीं है—कभी सरदी पड़ने लगती है, कभी गरमी नाक में दम कर देती है। शायद इसी वजह से तुम्हारी तबीयत एकाएक खराब हो गई।"

"दवा क्या होगी, ज्वर आप ही दो-एक रोज में उतर जायगा।"

"बस, तुम्हारी ऐसी ही बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। मर्ज आप ही आप अच्छा हो जाया करे, तो डाक्टर-वैद्य संसार से लोप हो जायँ। मैं अभी जाकर वैद्यजी को बुलाये लाता हूँ। वह मेरे मित्र हैं, बढ़िया दवा देंगे।"

संतोष की साँस लेकर, गोविन्दी करवटें बदलने लगी। यही गनीमत है कि बीमारी के समय तो कुछ ख्याल करते हैं। बकते-झकते हैं, मार-

पीट करते हैं—होगा, दुनिया में सभी मर्द तो ऐसे ही होते हैं। किस मर्द में ऐब नहीं होता ?

कपड़े बदल कर पंडितजी तुरन्त घर से निकले। गोविन्दी कराह-कराह कर तकलीफ कम करने की कोशिश करने लगी। दुर्गा भी कैसा कठोर-हृदय है। जिस दिन से घर छोड़ा, एक बार भी सूरत नहीं दिखाई वह भी मर्द-बच्चा है। मा के हृदय की व्यथा को वह कैसे समझ सकता है। जब पंख निकल आते हैं, तो पक्षी का बच्चा भी उड़ कर अलग घोंसला बना लेता है। हाय रे पापी मन। तेरे ऊपर स्त्री का वश क्यों नहीं रहता ? जिस पैर से तू बार-बार ठोकरें खाता है, उसे ही चाटने के लिए उसी पर लोटने के लिये तू क्यों दौड़ता है ? उसकी आँखों में आँसू छलक आये। उन अश्रु-बिंदुओं में अगाध ममता थी, अकथनीय वेदना थी, असह्य विवशता थी।

आधा घण्टा बीत गया। वैद्यजी को साथ लेकर पंडितजी वापस आये।

वैद्यजी ने नाड़ी देखी, हाल पूछा, फिर अचकन की जेब से औषधियों का डब्बा निकाल पुड़ियों में दवा बाँधने लगे। औषधि देकर, सेवन की विधि समझा कर, पथ्य बता कर, सान्त्वना देकर, वैद्यजी चले गये। दो-दो घन्टे पर, गोविन्दी दवा खाने लगी, किन्तु ज्वर बढ़ता ही गया। रात भर वह कराहती हुई पड़ी रही।

दूसरे दिन भी उसे आराम न मिला। दिन-पर-दिन बीतने लगे, किन्तु ज्वर के उतरने का कोई लक्षण दिखाई न दिया।

छठवें दिन की बात है। मध्याह्न का समय था। पंडितजी पाठशाला गये हुये थे। गोविन्दी खाट पर पड़ी हुई तड़प रही थी। अब यह रोग दूर न होगा क्या ? नहीं, अब यह प्राण लेकर ही जायगा। अच्छा है,

आये दिन की मुसीबतों से पिण्ड छूट जायगा। इस दुनिया में क्या रखा है? यहाँ कौन-सा सुख मिल रहा है? कुछ नहीं। यहाँ सिर्फ कुढ़न है, जलन है, कठोरता है, निर्दयता है। तो अब इससे विदा होना पड़ेगा? हाँ, अब समय आ गया, जुदाई का समय आ गया। उनकी उम्र अभी बहुत ज्यादा तो हुई नहीं, फिर ब्याह कर लेंगे। मेरे कारण तो उन्हें सदा दुख-ही-दुख मिलता रहा है। नई स्त्री आयेगी, तो उन्हें कुछ दिन सुख तो मिलेगा। सुख मिलेगा? क्यों न मिलेगा? मेरे कारण इतनी बदनामी उठा चुके हैं, इतना कष्ट सह चुके हैं, सुख पाने ही की बारी है। दुर्गा? अब उस भोले-भाले निरीह दुर्गा की देख-रेख कौन करेगा? वह लजीले स्वभाव का है, किसी से कुछ माँग भी नहीं सकता। अब उसकी बात कौन पूछेगा? कौन उसे दुलार-चुमकार कर खिलायेगा? कौन उसे प्यार करेगा? कौन पंख फैला कर उसे अपने साये में रखेगा? किन्तु भगवान् तो अपने साधारण-से-साधारण जीव की रक्षा करते हैं, वही तो भयंकर वन में बैठे हुये साधु को भी भोजन देते हैं। हाँ, उसने तो कोई पाप नहीं किया, उसकी सहायता तो भगवान् अवश्य करेंगे। फिर, बाबाजी भी तो हैं। ऐसा दयावान् मनुष्य आज तक कहीं देखने को नहीं मिला। बाबाजी दुर्गा को अपनी संतान की तरह पालेंगे। मरने से पहले वह एक बार आँख भर कर देखने को मिल जाता, तो प्राण सुख से निकल जाते। क्या वह न आवेगा? आवेगा! नहीं, न आवेगा! वह भी बड़ा हठी है। खैर देखा जायगा। हे ईश्वर, इस पापिन की क्या दशा होगी? नरक भोगना होगा। किन्तु तुमने तो बड़ी-बड़ी पापिनों को तारा है। अहिल्या ने कौन सुकर्म किया था? फिर तुम्हारे चरण-कमल के साधारण स्पर्श से उसका बेड़ा क्यों पार हो गया? गणिका तो वेश्या थी, फिर उसे स्वर्ग में स्थान क्यों मिला था?

"बहूजी ! कहाँ हो, बिटिया !" बन्द दरवाजा खोल कर, एक वृद्धा सहन में आकर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगी।

"यहाँ कोठरी में हूँ, चौधराइन। चली आओ।"

"अच्छा, बिटिया, अभी आई।"

कोठरी में प्रवेश कर करुण दृष्टि से एक बार गोविन्दी के सूखे हुये चेहरे की ओर देख कर वृद्धा जमीन पर बैठ गई।

"बोरा बिछा कर बैठो, चौधराइन। उधर बड़ी सन्दूक पर रखा है।"

"रहने दो, बिटिया। ऐसे ही अच्छा है। कैसा जी है ?"

"कई दिन से बुखार आ रहा है। बोरा ले लो, चौधराइन, कहा मानो। ऐसे बड़ा खराब मालूम हो रहा है।"

"अच्छा, रानी, लिये लेती हूँ।"

सन्दूक से बोरा लेकर, बिछा कर, बैठते हुए वृद्धा ने कहा—"आज सुमेर की माई से मालूम हुआ कि तुम्हारी तबीयत खराब है।"

"बड़ा अच्छा किया, चौधराइन। तुमसे भेंट करने को जी बहुत चाहता था।"

"बुखार क्या किसी बखत नहीं उतरता, बिटिया ?"

"नहीं, चौधराइन, उतरता तो नहीं। साँझ-सवेरे कुछ कम हो जाता है।"

"राम-राम ! नीम का काढ़ा पियो रानी, तो बहुत जल्दी उतर जाय।"

"अभी तो वैद्य की दवा खा रही हूँ। फिर चौधराइन, अब तो कोई दवा खाना मुझे अच्छा भी नहीं लगता।"

"काहे बिटिया, दवाई खाये बिना रोग कैसे दूर होगा ?"

"दूर हो, चाहे न हो, अब मुझे कोई परवाह नहीं है।"

"ऐसी बात न कहो, बहूजी।"

"नहीं, चौधराइन, अब मैं अच्छी न होऊँगी। मेरा समय अब आ गया।"

"जी छोटा न करो, बिटिया, जरूर अच्छी हो जाओगी।"

"अच्छी होकर क्या करूँगी, चौधराइन? यहाँ कौन सुख मिल रहा है? मरने के बाद रोज-रोज के रोने-झीखने से पिण्ड तो छूट जायगा।"

"हाँ, बिटिया, तकलीफ में तो हम सभी हैं। शायद कोई बड़ा भारी पाप करने पर औरत की देह मिलती है।"

"ठीक कहती हो, चौधारइन। यह पाप ही का दण्ड है। मेरा एक काम कर दोगी, चौधराइन?"

"क्यों न करूँगी, बिटिया? बताओ कौन काम है?"

"जरा बाबाजी की बगिया में जाकर दुर्गा को बुला लाओ। उसे देखने को जी तरस रहा है।"

"क्यों, दुर्गा क्या अभी तक लौट कर नहीं आया?"

"नहीं, माई, नहीं आया। क्यों आवे? मैं उसकी कौन हूँ?"

"यह तो बड़ी खराब बात है। इतनी जिद अच्छी नहीं होती। जिस कोख से पैदा हुआ, उसका कुछ तो ख्याल करना चाहिये। अच्छा रानी, मैं अभी जाकर बुलाये लाती हूँ।"

"उसे खूब समझाना-बुझाना, चौधराइन। कह देना कि तुम्हारी मा बहुत बीमार हैं, अगर मुँह देखना हो, तो चल कर देख आओ।"

"अच्छा बिटिया, ऐसे ही कहूँगी। हर तरह से समझाऊँगी।"

तब वृद्धा चली गई। गोविन्दी करवट बदल-बदल कर, कारह कराह

कर प्रतीक्षा करने लगी। वह आयेगा कि नहीं? दूध में कुछ जोर है, तो अवश्य आयेगा! उसे देख कर वह बिगड़ेंगे? मुख से चाहे इस वक्त कुछ न कहें, पर मन में तो जरूर जल-भुन जायँगे। जला-भुना करें। अब किसी की खुशी-नाखुशी से क्या बने-बिगड़ेगा?

७

गोधूलि का समय था। पार्क में दुर्गा विचारों में डूबा हुआ टहल रहा था। घर से निकले इक्कीस दिन हो गये। कोई बुलाने नहीं आया। मा ने भी खबर नहीं ली। कहने को तो उस दिन बुलाने आई थीं, जिस दिन झगड़ा हुआ था। लेकिन उस दिन तो क्रोध का आवेग था। क्रोध में कौन अन्धा नहीं हो जाता? फिर जो तंग आ जाता है, वह लड़ने को भी तैयार हो जाता है। किसी को पीटो और वह रोये भी नहीं? वाह! कैसा न्याय है! अच्छा हुआ, कोई बुलाने नहीं आया। जिस घर को एक बार छोड़ दिया, वहाँ फिर जाना ठीक न होता—न होता। बाबाजी के यहाँ किस बात की कमी है? वह कैसे भले आदमी हैं! कितना ख्याल रखते हैं! इतनी फ़िक्र कोई अपना सगा भी नहीं रख सकता। सगों का रंग तो खुल गया। अपना-पराया सिर्फ़ संसार का ढकोसला है। अपने पराये हो जाते हैं और पराये अपने हो जाते हैं। उफ! कैसी गर्मी है। एक पत्ता भी नहीं हिल रहा है। कहीं बैठना चाहिये। यहाँ बेंच पर बैटना तो ठीक न होगा। तब वह उधर पक्के तालाब की ओर चला गया।

"दुर्गा !"

"कौन है ?" उसने घूम कर देखा, पीछे भोलानाथ चला आ रहा था। दुर्गा रुक कर खड़ा हो गया।

"कहो यार, क्या हाल-चाल है?"

"अच्छा है, भाई।"

"अपना वादा बिलकुल भूल गये, दुर्गा ?"

दुर्गा ने उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा।

"उस दिन तुम कह आए थे न, कि जल्दी ही किसी दिन आऊँगा ?"

"हाँ, कहा तो था। माफ करो भाई, एक खास वजह से नहीं आ सका। आजकल बड़े चक्कर में पड़ गया हूँ।"

"क्यों, क्या बात है ?"

"घर से निकाल दिया गया हूँ।"

"निकाल दिए गए हो ? यह तो मैं नहीं मान सकता।"

"मानो या न मानो, लेकिन बात तो मैं बिलकुल सच कह रहा हूँ !"

"तो आजकल कहाँ रहते हो, दुर्गा ?"

"मेरे घर से थोड़ी दूर पर एक मन्दिर है। उसके पुजारीजी मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं। उन्हीं के साथ रहता हूँ।"

"यह बड़ा अच्छा हुआ कि यहाँ तुमसे मुलाकात हो गई। कई दिन से तुमसे मिलने की बात सोच रहा था। अगर कोई काम न हो, तो इस वक्त थोड़ी देर के लिए मेरे घर चलो। मा कई बार तुम्हें पूछ चुकी हैं।"

"इस वक्त कोई काम तो नहीं है, लेकिन आज न चल सकूँगा। दो तीन दिन में जरूर आऊँगा।"

"जरूर आओगे ?"

"हाँ-हाँ, जरूर आऊँगा।"

"अच्छा, तो अब मैं जाता हूँ। पापा उधर गाड़ी में बैठे हुए मेरा इन्तजार कर रहे हैं।"

"पापा के साथ आये हो क्या ?"

"हाँ, वह सैर करने के लिए लिये निकल रहे थे, मैं भी साथ हो लिया। जरूर आना, यार।"

"जरूर आऊँगा। नमस्कार !"

"नमस्कार !" उठ कर, भोला तेजी से उस ओर चला गया।

एक दीर्घ निःश्वास लेकर दुर्गा जल में उछलते हुये मेढकों का खेल देखने लगा। वे छोटे-बड़े मेढक कभी उसकी ओर ध्यान से देखने लगते, कभी डुबकी मार जाते, कभी छलाँगें मार-मार कर एक क्षण में तालाब के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच जाते, कभी एक दूसरे के पीछे दौड़ते। मेंढक भी विचित्र जीव है। जल का छोटा-सा गढ़ा ही इसका संसार है। इसके अतिरिक्त क्या इसे किसी दूसरे चीज की कामना नहीं होती ? हाँ, क्यों होती होगी ? इसी में तो उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। हो जाता होगा, क्या करना है। यहाँ तो यह लम्बा चौड़ा-संसार भी काफी नहीं मालूम होता ! हाँ, जहाँ नित्य नई-नई इच्छायें धूम मचाने लगें, वहाँ संतोष कहाँ ?

सहसा प्रगाढ़ अंधकार छा गया। आकाश में काले-काले बादल उमड़-उमड़ कर गर्जन करने लगे। बिजली चमकने लगी। मेढकों की कर्कश टर्र-टर्र शुरू हो गई। अब चलना चाहिए। मन्दिर से निकले बड़ी देर हो गई। बाबाजी इन्तजार कर रहे होंगे।

तब वह उठ कर तालाब से नीचे उतरा। भोला—बड़ा सीधा लड़का है भोला, और सच्चा मित्र है। गैर का जो कोई इतना खयाल रखे वह सरल नहीं है, सच्चा नहीं है, तो क्या है? नहीं, ऐसे व्यक्ति की मित्रता मनुष्य को ऊपर उठा सकती है। वह घटना? वह खेदजनक अवश्य थी, किन्तु भोला का उसमें विशेष दोष न था। वह घटना होने को थी, हो गई। फिर उसने क्षमा भी तो माँग ली। यह भी उसकी उदारता है। उसके स्थान पर अगर वह स्वयं होता, तो क्या माफी माँग लेता? हाँ, माँग लेता। कदाचित् न माँग सकता। भोला की माता? वह तो सच-मुच देवी हैं। सोने का उनका दिल है। उनकी एक-एक बात से स्नेह टपका पड़ता है। उस दिन उन्होंने उसकी कितनी खातिर की थी। एक क्षण के लिए भी क्या उसे ज्ञात हुआ था कि वह गैर के सामने बैठा है? वाह! मा हो, तो ऐसी हो। भोला की बहिन? अजीब लड़की है वह! न झिझक, न लज्जा..खैर जाने दो।

"दुर्गा!"

"हाँ, बाबा।"

"आ गये?"

"हाँ।"

"बड़ी देर लगाई। आओ बैठो। कहाँ-कहाँ हो आये?"

"पुस्तकालय गया था। वहाँ से निकल कर पार्क में घूमता रहा। वहीं से चला आ रहा हूँ।" पुजारीजी के समीप वह कम्बल पर बैठ गया।

पुस्तकालय जाते हो, यह बहुत अच्छा करते हो। नित्य जाया करो। अच्छा, एक बात सुनो, तुम्हारी मा बहुत बीमार है।"

"बीमार है?"

"हाँ ।"

"उसे क्या हुआ है, बाबा ?"

"एक हफ्ते से बराबर ज्वर रहता है। कोई दवा फ़ायदा नहीं कर रही है।"

दुर्गा के सुकोमल हृदय में इतने दिनों से दबी हुई स्नेह-व्यथा सहसा चीत्कार करती हुई उठ खड़ी हुई। उद्वेलित चित्त को सँभालता हुआ वह फर्श की ओर ताकने लगा।

"दुर्गा !"

"जी...हाँ ।"

"अब तुम्हारा धर्म है कि तुरन्त जाकर मा को देख आओ।"

दुर्गा निस्तब्ध बैठा रहा। यही तो कोई उसके मन में भी कह रहा था। किन्तु उस समय तो वह उसके समर्थन में नहीं, विरोध में कुछ सुनना चाहता था। इसीलिए पुजारीजी के आदेश के उत्तर में वह कुछ न कह सका।

अपनी तीव्र दृष्टि दुर्गा के चेहरे पर गड़ा कर पुजारीजी ने कहा—"तुम्हारे मन का भाव मैं समझ रहा हूँ, बेटा। यह स्वाभाविक है। किन्तु संकट के समय मान-अपमान की बात बिलकुल भूल जाना चाहिए। जाओ हो आओ, मेरा कहा मानो।"

किंचित् लज्जित होकर दुर्गा बोला—"अच्छा... बाबा, जाता हूँ।"

"हाँ बेटा तुरन्त जाओ। गोविन्दी ने बहुत तरह से तुम्हें बुलाया है। तुम्हें देखने की उसे बड़ी लालसा है। उसकी इच्छा इस समय पूरी न करोगे, तो तुम्हारे ऊपर दोष लगेगा।"

दुर्गा उठ खड़ा हुआ।

"लौट कर सीधे यहीं आना, दुर्गा।"

"अच्छा, बाबा।" धीरे-धीरे आगे बढ़ कर, वह उधर अंधकार के पर्दे में अदृश्य हो गया। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर, उठ कर, पुजारी-जी मण्डप की ओर चले। कैसी अभागी स्त्री है गोविन्दी ? अब तक उसे दुख-ही-दुख मिलता आ रहा है। कोई साधारण स्त्री होती, तो अब तक पागल हो गई होती। वाह री मोह माया ! सब-कुछ चला जाता है, किन्तु तू नहीं जाती। अब उसका अन्त समय आ गया क्या ? अच्छा है। नहीं, नहीं, अभी ऐसा होना उचित नहीं है। हे भगवान् मुरलीधर ! ऐसा अभी न होने देना। बड़ी भली स्त्री है, बिलकुल बेजबान। सेवा करने वाली तो ऐसी आज तक कहीं देखने को नहीं मिली।...

घर सामने आ गया। बन्द दरवाजे की ओर ध्यान से देखता हुआ दुर्गा धुंधली गली में ठिठक कर खड़ा हो गया। दरवाजा तो बन्द है। आवाज देनी पड़ेगी। बाबू घर पर हैं कि नहीं ? अगर हैं, तो उनके सामने कैसे अन्दर जाना हो सकेगा ? नहीं, ऐसा न होगा। जो अपने से घृणा करता है, उसे अपनी सूरत दिखाना ठीक नहीं। 'संकट के समय मान-अपमान का विचार ठीक नहीं।' यह तो ठीक है, लेकिन...?

धीरे-धीरे आगे बढ़ कर, दरवाजे के समीप जाकर, वह निस्तब्ध खड़ा हो गया।

"रघुपति राघव राजा राम,
पतित-पावन सीताराम !"

यह तो बाबू की आवाज है। हाँ, वही गा रहे हैं। कैसा कर्कश स्वर है। फिर भी गाने का इतना शौक ! होगा, यहाँ क्या करना है ? आवाज लगाना ठीक है ? नहीं, यह ठीक न होगा। उनकी भयंकर दृष्टि का सामना

कौन करेगा ? द्वार यदि स्वयं खुल जाय, तो शायद...नहीं, यह असम्भव है।

"रघुपति राघव राजा राम..."

सहसा उसने धीरे से बन्द दरवाजे को धक्का दिया। चर-मर करते हुये दरवाजे के पल्ले आधे खुल कर रह गये। यह क्या ? अन्दर घुसना चाहिये ? नहीं...यह नहीं हो सकता ! क्यों नहीं ?...नहीं...नहीं . नहीं !

"कौन है ?"

तुरन्त घूम कर, दुर्गा तेजी से पीछे लौटा। उस समय उसकी दशा उस बालक की-सी हो गई, जो किसी बाग में चोरी करता हुआ पकड़ गया हो। तेजी से चलकर, वह एक मिनट में दूसरी गली में मुड़ गया। उस समय उसे ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानो कोई उसका पीछा कर रहा हो।

वह रुक कर खड़ा हो गया। उसका हृदय वेग से धड़क रहा था, साँस तेजी से आ-जा रही थी। वह पीछा करने वाला यहाँ उसे पा भी जाय, तो अब क्या कर लेगा ? उसने तो कोई अपराध नहीं किया ? उस घर में उसने झाँका था, किन्तु झाँकना तो कोई अपराध नहीं। फिर वह घर भी तो उसी का है ? अब न सही, पहले तो था। वह घर उसका हो या न हो, किन्तु वहाँ जाने का उसे अधिकार है। उसकी मा क्या वहाँ नहीं रहती ? इस समय क्या वह सख्त बीमार नहीं है ? वह गैर के घर में सही, किन्तु रोगी मा को देखने का क्या पुत्र को अधिकार नहीं ?

दो मिनट बीत गये, किन्तु गली के बाहर कोई नहीं निकला। तब मोड़ पर जाकर उसने झाँका। गली सूनी पड़ी थी। वह भ्रम था क्या ? नहीं, मालूम तो यही होता था कि कोई पीछा कर रहा है। करता रहा होगा। अब क्या करना चाहिये ? फिर चलना चाहिये ? वहाँ जाने का उसे

अधिकार है। किन्तु ...नहीं, अब यह असम्भव है। घूम कर वह मन्दिर की ओर चला। बाबाजी बहुत नाराज होंगे। हाँ, नाराज तो होंगे, किन्तु किसी को खुश करने के लिये वह असम्भव को सम्भव तो नहीं कर सकता। बहुत करेंगे, वह भी निकाल देंगे। इसकी उसे क्या परवाह है? यह सब सोचना व्यर्थ है। बाबाजी कभी घर से नहीं निकालेंगे। ऐसा उदार व्यक्ति इतने साधारण अपराध के कारण इतना संकीर्ण न हो जायगा। नहीं, हरगिज नहीं।

घड़-घड़ घड़-घड़! यह क्या? बूँदें भी गिरने लगीं? उसने कदम तेज किये। किन्तु देखते-देखते मूसलाधार पानी बरसने लगा। उसके कपड़े लथ-पथ हो गये। तब वह एक पेड़ की छाया में खड़ा हो गया। सर्दी मालूम होने लगी। शीतल वायु के झोंके उसके भीगे हुए शरीर में तीर की तरह लगने लगे। उसने दोनों हाथ सीने पर कस कर बाँध लिये। नीम के पेड़ के नीचे से निकल कर वह तेजी से सड़क पर चलने लगा। जोरों की वर्षा हो रही थी। दस गज दूर की कोई चीज़ भी न दिखाई देती थी।

किसी-न-किसी तरह रास्ता कट गया। दुर्गा ने वाटिका में प्रवेश किया। एक मिनट में बारहदरी के समीप पहुँच कर ऊपर चढ़ कर वह कपड़े निचोड़ने लगा।

"दुर्गा!"

"हाँ, बाबा।"

"भीग गये?"

"जी हाँ।"

"गोविन्दी की कैसी तबीयत है? देख आये?"

दुर्गा कोई उत्तर न दे सका। चुपचाप खड़ा कुरता निचोड़ता रहा।

"बोलते क्यों नहीं, बेटा? उसे देखने नहीं गये थे क्या?"

"गया...तो...था।"

"फिर?"

"दरवाजा...बन्द...था।"

"दरवाजा बन्द था? तो तुमने खटखटाया नहीं, आवाज़ नहीं लगा?"

"न...हीं।'

"क्यों?"

दुर्गा निस्तब्ध रहा।

"वाह...वाह! दरवाजे तक पहुँचे, लेकिन अन्दर नहीं गये? तुम्हारी भी अजीब हालत है! दुनिया में तुम्हारा काम कैसे चलेगा, मेरी समझ में नहीं आता।"

किन्तु यह सब सुनने के लिये वह तैयार होकर आया था।

"अच्छा जाओ, कपड़े तो बदल लो। अपनी तबीयत भी खराब करने वाले हो क्या?"

तब दुर्गा धीरे-धीरे अपनी कोठरी की ओर चला गया। इतने सस्ते निपट जाने की उसे आशा न थी।...

दुर्गा की प्रतीक्षा में तड़प-तड़प कर गोविन्दी करवटें बदल रही थी। सामने ताक पर कड़वे तेल का चिराग जल रहा था। अभी तक नहीं आया। न आवेगा क्या? क्यों आवेगा? यहाँ कौन बैठा है? बाबाजी

ने तो वादा किया था कि उसे जरूर भेज देंगे। वह भी भूल गये क्या? नहीं, वह भूलनेवाले आदमी नहीं हैं! उन्होंने उससे जरूर कहा होगा। वह खुद ही नहीं आया। कैसा ज़िद्दी लड़का है। लेकिन हर समय तो ज़िद ठीक नहीं होती। यह सुना कि मा मर रही है, फिर भी ज़िद! कैसी खराब बात है। उसे कौन समझावे, वह किसके मान का है। मेरे सिवा वह किसी की नहीं सुनता। क्यों सुने? किसी ने उसके साथ क्या किया है? उनको देखो कभी उससे हँस कर नहीं बोले, कभी प्यार नहीं किया। प्यार के सिवा आदमी किसी से नहीं दबता। सिर में कैसी विकट पीड़ा है। हाय, आज की रात न कटेगी क्या? नहीं, अब नहीं सहा जाता। हे भगवान्! अब इस अबला की सुन लो, इस शरीर का अन्त कर दो। नहीं, अभी नहीं। दुर्गा! बिना उसे देखे प्राण सुख से न निकलेंगे, आत्मा शान्त न होगी। फिर क्या करना चाहिये? आह! उन्हें गये कितनी देर हुई? अभी ही तो गये हैं। दो-तीन घंटे से पहले क्या लौटेंगे।

सहसा वह उठ कर बैठ गई। फिर वह धीरे-धीरे खाट से उतर कर खड़ी हो गई। चक्कर आ गया, वह फिर खाट पर गिर पड़ी। कई मिनट के बाद चित संभाल कर, वह फिर उठी। खाट से कम्बल उठा कर, उसने उसे सिर से पैर तक ओढ़ लिया। फिर एक-एक पग सँभाल-सँभाल कर रखती हुई, वह कोठरी से दालान में आई। शीतल वायु का एक झोंका लगा, उसका जर्जर शरीर काँपने लगा, वह जमीन पर बैठ गई। पानी बरस रहा है? तब? हे ईश्वर! सहायता करो।

पाँच मिनट के बाद वह उठ कर खड़ी हो गई। सर्दी भाग गई, शरीर में विचित्र शक्ति हिलोरें लेने लगी। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी। सहन पार हो गई, दालान में आ गई। यह दरवाजा बन्द है।

निर्बल हाथों का पूरा बल लगा कर उसने दरवाजा खोला। घर खाली रहेगा, दरवाजा खुला छोड़ देना पड़ेगा। खुला रहने दो। यहाँ रखा ही क्या है कि कोई चोरी करने आयेगा। हाँ, जाने दो, अब किसी बात का डर नहीं है। धीरे से निकल कर उसने दरवाजा बन्द कर दिया।

कम्बल शरीर से कस कर लपेटे हुए, वह धीरे-धीरे गली में चलने लगी। हा-हा करती हुई वृष्टि क्रमशः जोर पकड़ने लगी। कम्बल भीगने लगा, सर्दी जर्जर शरीर पर आघात करने लगी। किन्तु दांतों को दबाये हुए गोविन्दी, सिहरती-कांपती, आगे बढ़ती गई।

अब आगे बढ़ना असम्भव है। नहीं, कुछ दूर और। हाँ, वह मन्दिर सामने आ गया।

भोजन समाप्त हो चुका था। पुजारीजी और दुर्गादत्त अपने-अपने बिस्तर पर पड़े हुए करवटें बदल रहे थे। वृष्टि अभी रुकी न थी, कुछ कम हो गई थी। पावस के विरागपूर्ण स्वर-से-स्वर मिलाकर विश्व के अगणित ज्ञात-अज्ञात जीव गीत गा रहे थे। वह सुमधुर संगीत उन दोनों के कानों में घुस कर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु उसकी ललित प्रतिध्वनियाँ विकल विचारों के कोलाहल में स्वयं लोप हुई जाती थीं। दोनों के मस्तिष्क के द्वारों पर बैठी हुई चिन्ता निद्रा देवी को रास्ता देने से इनकार कर रही थी।

सहसा किसी के गिरने का शब्द हुआ। फिर एक चीख सुनाई दी। चौंक कर, पुजारीजी उस प्रगाढ़ अन्धकार की ओर आँखें फाड़ कर देखने लगे। यह किसकी आवाज थी? कोई, फिसल कर गिर पड़ा क्या? जरूर यही बात है। देखना चाहिये।

"कौन है?"

कोई उत्तर न मिला। दुर्गा भी उठ कर इधर-उधर कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखने लगा।

एक हाथ में चिराग, दूसरे में छाता लेकर, पुजारीजी तुरन्त बारहदरी के नीचे उतरे। इधर-उधर रोशनी फेंक-फेंक कर, वह ध्यान से देखने लगे। यहाँ तो कोई नहीं दिखाई देता। भ्रम था क्या? नहीं, भ्रम नहीं हो सकता। आवाज साफ सुनाई दी थी। वह आवाज जरूर किसी आदमी की थी। यहीं कहीं होगा। हाँ, जरूर यहीं कहीं है। धीरे-धीरे वह आगे बढ़ने लगे।

एं! यह तो कोई स्त्री है। यह केश तो किसी स्त्री के ही हैं।

हाँ, माँग में सिंदूर भी तो है। तुरन्त झुक कर, माथे से कम्बल हटा कर, उस चेहरे की ओर देख कर पुजारीजी चौंक पड़े। एं! यह तो गोविन्दी है। बड़ा अनर्थ हो गया! नारायण! नारायण!

"दुर्गा! दुर्गा! दौड़ बेटा। गजब हो गया!"

पुकार सुन कर, तुरन्त नीचे उतर कर दुर्गा उस ओर लपका।

"कौन है, बाबा?"

"जल्दी आ। गोविन्दी है। खुद चली आई। गज़ब हो गया।"

एक क्षण में समीप पहुँच कर, घुटनों के बल बैठ कर दुर्गा मा के गले से लिपट गया।

"अम्मा! अम्मा!" उसकी आँखों से आँसू की धाराएँ बहने लगीं।

"हाँ-हाँ! यह क्या कर रहे हो, बेटा? इसे उठा कर यहाँ से फौरन ले चलना चाहिये। उठो दुर्गा, तुम चिराग ले लो। मैं इसे उठा ले चलूँगा।

विवश होकर दुर्गा आँसू बहाता हुआ, उठ खड़ा हुआ और पुजारी जी के हाथ से चिराग और छाता ले लिया। तुरन्त झुक कर पुजारीजी ने गोविन्दी को अपने बलिष्ठ हाथों पर उठा लिया। फिर वे सँभाल-सँभाल कर पैर रखते हुये बारहदरी की ओर चले।

बारहदरी में पहुँच कर, गोविन्दी को बिस्तर पर लिटा कर, पुजारी-जी ने हाथ रख कर देखा—माथे से आग निकल रही थी। नाड़ी छूट गई थी, साँस रुक-रुक कर चल रही थी।

"जल्दी कम्बल ले आओ, दुर्गा। सर्वनाश हो गया। ऐसी खराब हालत में यहाँ आने की क्या जरूरत थी? गोविन्दी... गोविन्दी!"

किन्तु उत्तर कौन देता? गोविन्दी तो अचेत थी। पुजारीजी की आँखों से आँसू की कई बूँदें टपक पड़ीं। आँखें पोंछ कर, वह उस अचेत शरीर से भीगा कम्बल हटाने लगे।

"कम्बल...लीजिये...बाबा।"

भीगा कम्बल हटाकर, दुर्गा के हाथ से सूखा कम्बल लेकर, गोविन्दी को उससे अच्छी तरह ढँक कर पुजारीजी ने कहा—"इसे जरा दबाओ तो बेटा। मैं अभी आया।"

दुर्गा मा के शरीर से लिपट गया। उसकी आँखें फिर आँसुओं की वर्षा करने लगीं।

चिराग लेकर, पुजारीजी ने अपने कमरे में प्रवेश किया। चिराग फ़र्श पर एक ओर रख कर उन्होंने सन्दूक खोली। शीशियाँ निकाल कर एक छोटे से गिलास में कई औषधियाँ उंडेलीं। संदूक खुली छोड़ कर, चिराग लेकर, वह शीघ्रता से लौटे।

"यह दवा इसे तुरन्त पिलानी चाहिये।" गोविन्दी के सिरहाने बैठते हुये पुजारीजी बोले—"कैसे पिलाई जाय? इसके दाँत तो बैठ गये हैं। दुर्गा उठो, एक काम करो। मैं किसी तरह इसका मुँह खोलता हूँ, तुम दवा पिलाओ।"

उठ कर, दुर्गा ने गिलास ले लिया। पुजारीजी गोविन्दी का मुख खोलने की कोशिश करने लगे।

बड़ी कठिनाई से मुख खुला, दुर्गा ने तुरन्त दवा पिला दी। दोनों चिन्तित दृष्टि से गोविन्दी के चेहरे की ओर देखने लगे।

दो मिनट बीत गये। सहसा गोविन्दी का अचेत शरीर काँपने लगा। दुर्गा लिपट गया। एक मिनट में कम्पन बन्द हो गया।

"अब हट जाओ, दुर्गा। दवा काम करने लगी है। दबाने की अब कोई जरूरत नहीं है।"

दुर्गा उठ कर एक ओर बैठ गया। दो-तीन क्षण के बाद गोविन्दी ने अँगड़ाई ली, फिर उसके होंठ धीरे-धीरे हिले।

"गिरधरधारी की जय हो! अब आशा हो गई, जरूर बच जायगी।"

दुर्गा की आर्द्र मुद्राप्रफुल्ल हो गई। एकाएक गोविन्दी की आँखें खुलीं। एक बार उन दोनों को शून्य दृष्टि से देख कर आँखे फिर बन्द हो गईं। पुजारीजी ने नाड़ी देखी।

"भगवान् ने सुन लिया। घबराओ नहीं बेटा, अब यह चंगी हो जायगी। गोविन्दी! गोविन्दी!"

गोविन्दी की आँखें फिर खुलीं। इस बार उनमें विस्मृत का शून्य न था।

"कैसा जी है, बिटिया?"

वह कुछ बोल न सकी, किन्तु उसका सिर धीरे से हिला। पुजारीजी के चेहरे से हट कर उसकी आँखें दुर्गा के चेहरे पर जम गईं। फिर सूखे कपोलों पर आँसू बहने लगे। कम्बल के नीचे से निकल कर उसके दुर्बल हाथ धीरे-धीरे दुर्गा की ओर बढ़े। वह स्वतः झुका। वे उसके गले में लिपट गये। वह भी लिपट गया।

"अम्मा...अम्मा! कहाँ चली जा रही हो, अम्मा।"

सहसा गोविन्दी को हिचकियाँ आने लगीं। आँखों की पुतलियाँ फिर गईं। हाथ ढीले होकर दुर्गा की गरदन से खिसकने लगे। हृदय की गति स्थिर हो गई, साँस रुक गई।

"हट बेटा, देखूँ तो क्या हाल है?"

किन्तु निरीक्षण का वह उपक्रम अब निरर्थक था। गाड़नी देख कर, पुजारीजी सिर हिलाते हुए अलग हट गये।

चीख मार कर दुर्गा शव से लिपट गया और फफक-फफक कर रोने लगा।

८

सवेरा हो गया था, किन्तु सूर्यदेव न निकले थे। आकाश में श्वेत मेघ उमड़ रहे थे। श्मशान के बीहड़ वक्ष-स्थल पर गोविन्दी की चिता जल रही थी। एक ओर बैठा हुआ शोक-समाज धू-धू करती हुई अग्नि-शिखाओं की ओर विषादपूर्ण दृष्टियों से देख रहा था।

"जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। न जाने कब किसका वक्त आ जाय," एक व्यक्ति ने कहा।

"इसीलिए तो कहा है कि मौत का सामना करने के लिए हर मनुष्य को हर घड़ी तैयार रहना चाहिए!" दूसरे सज्जन कह उठे।

"लेकिन भाई, कौन तैयार रहता है। यम के दूत जब सामने आकर खड़े हो जाते हैं तभी होश आता है।"

"हाँ, साहब, आप ठीक फ़र्माते हैं। यही तो रोने की बात है। मुसीबत जब तक सिर पर नहीं आ जाती, तब तक कौन परवाह करता है। किन्तु मनुष्य यदि दूरदर्शिता से काम ले और अन्त के लिए हर समय तैयारी करता रहे, तो संसार से पाप का भार उठ जाय।"

"हाँ, उठ जाय, अवश्य उठ जाय ! और यम का समना करने में क्लेश भी न हो, किन्तु कौन सोचता है यह सब ?"

"ऐसी लापरवाही न हो, तो मनुष्य-मनुष्य न रहे, देवता हो जाय !"

पुजारीजी ने गम्भीरता से सिर हिलाते हुए कहा—"बाबू साहब, मनुष्य अपने स्वभाव के अधीन है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, वैसे ही वह कार्य करता है। पूर्व जन्म के संस्कारों से प्रभावित होकर प्रत्येक जन्म में प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव बदलता रहता है। एक का स्वभाव दूसरे के स्वभाव से भिन्न होता है। जिस मनुष्य के स्वभाव में लापरवाही है, जिसे यातनाएँ भुगतनी हैं, वह लापरवाह ही रहेगा, किन्तु जो अपने दुष्कर्मों के परिणाम भुगत चुका है, जिसे पश्चात्ताप है, वह अन्त के लिये अवश्य तैयारी करने लगेगा।"

"सत्य है बाबाजी, सत्य है !"

विचार-प्रवाह अभी समाप्त न हुआ था। पुजारीजी फिर बोले—"हमारे इस संसार में लापरवाह लोगों की संख्या बहुत है, किन्तु ऐसे मनुष्यों का अभाव नहीं है, जो सचेत हो चुके हैं। अगर ऐसा न हो, तो प्रलय हो जाय। और जिस दिन यह परिस्थिति न रह जायगी, उसी दिन प्रलय आ जायगा। मेरी तो यही तुच्छ धारणा है।"

"वाह ! आपने तो सारी बातें आईने की तरह साफ कर दीं। वाह !"

"इसमें मुझे क्या श्रेय है, बाबूजी ! सृष्टि के आदि काल से हमारे साधक, हमारे ऋषि-मुनि यह सब कहते आये हैं। जो जिज्ञासु हैं, वे जानते हैं, जो नहीं हैं, वे अन्धकार में हैं। देखिये, यहाँ फिर वही स्वाभाव वाली बात आ जाती है।

"हाँ, बाबाजी, वही बात आ गई। वाह !"

उत्सुकता से यह सब सुनता हुआ, दुर्गा पुजारीजी के समीप मूर्त्तिवत् बैठा हुआ था। मनोवेदना की उग्रता तो आँखों के द्वारा बह गई थी, किन्तु उसके स्थान पर अब रह-रह कर उठने वाली टीस थी और था किसी विकट अभाव का महाशून्य। उसी महाशून्य से प्रभावित होकर तो वह इस समय यहाँ इस तरह बैठा हुआ था। वेदना की उग्रता के कारण उसकी जो शक्ति मूर्च्छित होकर गिर पड़ी थी, वही पुनः जाग्रत होकर उसकी उस हाड़-मास की मशीन को निर्दिष्ट पथ पर ले जा रही थी। मशीन चलती है, किन्तु चलने के सुख को क्या वह अनुभव कर पाती है ? वह जीवित था, किन्तु जीवित रहने के सुख से वंचित।

भाग्यहीना गोविन्दी की भौतिक विभूतियाँ जल कर खाक हो गईं। राख और बची-बचाई हड्डियाँ एक बड़े घड़े में भर दी गईं, फिर सब लोगों ने मिट्टी दी। घड़ा लेकर दो-तीन व्यक्ति एक डोंगी पर सवार हुये। डोंगी गहरे जल में पहुँची। तब कलि-मल-हरिणी जननी जाह्नवी के पावन वक्ष में वह घड़ा डाल दिया गया। चक्कर काटता हुआ घड़ा तह की ओर इस इस तरह चला, मानो कोई शिशु हर्ष से विह्वल होकर माता की गोद की ओर लपका जाता हो।

डोंगी लौट आई। दूसरे घाट पर लोगों ने जाकर स्नान किया। शेष मृतक-क्रियायें समाप्त हो जाने के पश्चात्, शोक-समाज इक्कों के अड्डे पर पहुँचा। किराया तय हुआ, तब लोग इक्कों पर सवार हो गये।

चालीस मिनट में दुर्गा पुजारीजी के साथ मन्दिर पहुँच गया। पुजारीजी का विचार था कि मिश्रजी दुर्गा को अपने साथ ले जाने की इच्छा प्रकट करेंगे, किन्तु उनका अनुमान असत्य निकला। साथ ले जाना तो दूर रहा, उन्होंने दुर्गा से दो बातें भी नहीं कीं।

मिश्रजी पुजारीजी के प्रिय शिष्य थे। किन्तु उनके आचरण के विषय में इन दिनों पुजारीजी जो कुछ देख-सुन चुके थे, उसके कारण उन्हें दुख था, दया आती थी। कई बार उन्होंने सोचा था कि उन्हें सावधान करें। किन्तु एक अप्रिय सत्य उन्हें बार-बार रोक देता—'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम!' यद्यपि भौतिक हानि-लाभ मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते, किन्तु इस समय वह भी निर्मूल सिद्ध हुई।

पुजारीजी के आग्रह करने पर भी दुर्गा दिन भर भोजन न कर सका। पुजारीजी ने भी व्रत रक्खा।

गोधूलि का समय था। पुजारीजी मण्डप में पूजा का आयोजन कर रहे थे। दुर्गा बारहदरी में कम्बल पर बैठा हुआ वाटिका की ओर शून्य दृष्टि से देख रहा था। बसेरा करते हुये भाँति-भाँति के पक्षियों के कल-रव से भरी हुई वाटिका में संध्या का रहस्यमय प्रकाश फैला हुआ था। गगन-मण्डल में दो-एक तारे निकल कर संसार को दार्शनिक दृष्टियों से देखने लगे थे। किन्तु दुर्गा न कुछ सुन रहा था, न देख रहा था। वह तो भविष्य की अज्ञात घड़ियों की कल्पना में तल्लीन था, जिनका सामना करने के लिये वह अभी तक कोई तैयारी न कर सका था। वर्त्तमान की तरह क्या भविष्य भी दुखद सिद्ध होगा? वर्त्तमान भविष्य की छाया है। क्या यह सत्य है? हो सकता है। नहीं, ऐसा हो, तो मनुष्य के हृदय में महत्वाकांक्षाओं का जन्म क्यों हो? मनुष्य अपने भाग्य का विधाता है।

"दुर्गा!"

उसने चौंक कर देखा, पीछे भोलानाथ खड़ा हुआ था।

"आओ, भोला, आओ। बैठो।"

समीप आकर, भोलानाथ कम्बल पर बैठ गया।

"यहाँ का पता कैसे पाया, भोला?"

उसकी ओर करुण दृष्टि से देखते हुये भोला ने कहा—"कल तुमने बतलाया था कि एक मन्दिर में रहते हो। आज तुमने आने का वादा किया था। अभी तुम्हारे यहाँ गया था, वहीं यहाँ का ठीक पता मिला। वहीं कल की दुर्घटना का भी हाल मालूम हुआ। सुन कर मुझे बड़ा अफ़सोस हुआ, भाई।"

दुर्गा की आँखें सजल हो गई। फर्श की ओर ताकता हुआ, वह आँसुओं के रोकने का प्रयत्न करने लगा।

"जाने दो, भाई, बहुत ज्यादा अफ़सोस न करो। ऐसे बुरे दिन सभी को देखने पड़ते हैं!"

मुख फेर कर दुर्गा ने आँखें पोंछ डालीं।

"चलो, दुर्गा मेरे यहाँ चलो।"

"आज तो मै न जा सकूँगा, भाई। माफ़ करो। किसी और दिन आऊँगा।"

निराश होकर भोला फर्श की ओर ताकने लगा। उसके चेहरे का भाव देख कर, विवश होकर दुर्गा ने कहा—"अच्छा, भाई ठहरो। बाबाजी को पूजा कर लेने दो। उनसे पूछ लूँ, तो चलूँ।"

"अच्छी बात है, पूछ लो। मैं बैठा रहूँगा, कोई जल्दी नहीं है।"

"अपना हाल-चाल बताओ, भोला।"

"सब अच्छा है, भाई। हाँ, स्कूल की एक खबर सुनो। बेचूलाल स्कूल से निकाल दिया गया।"

"क्यों—क्यों?"

"उसने लायब्रेरी से कई किताबें चुराई थीं। सारे स्कूल की तलाशी ली गई। एक किताब उसके बेग से निकाली। छुट्टी हो जाने के बाद, हेड मास्टर साहब ने स्कूल भर के सामने उसे बेंत जमाये, फिर उसे स्कूल से निकाल दिया।"

"यह तो उसने बड़ा खराब काम किया। ऐसा उसने क्यों किया? चोरी करने की क्या जरूरत थी? किताबें क्या यों नहीं मिल सकती थीं?"

"मिल क्यों नहीं सकती थीं? लेकिन जो चोरी करना सीख चुका है, वह चोरी किये बगैर कैसे रह सकता है?"

"हाँ, भाई, यह तो आदत की बात है। लेकिन वह ऐसा लड़का नहीं मालूम होता था?"

"लेकिन, अब तो उसका रंग खुल गया। वाकई वह बड़ा बदमाश लड़का है! मुझे भी उसने बड़ा धोखा दिया। उस दिन हमारे और तुम्हारे बीच जो झगड़ा हुआ था, उसका खास कारण वही था। उसी ने मेरे कान भरे थे, मुझे बहकाया था।"

"जाने दो यार, ऐसे लड़के की बात न करो। सुन कर बुरा लगता है।" बेन्चूलाल के आचरण के प्रसंग में भोला ने अज्ञात भाव से उस दिन के झगड़े का जो जिक्र कर दिया, उसने दुर्गा के मर्मस्थल पर आघात किया। इसी कारण अपने कौतूहल को दबा कर, उसे भोला को रोक देना पड़ा।

दो-तीन मिनट के बाद घंटी बजने लगी। दोनों मित्र मण्डप के द्वार पर जाकर खड़े हो गये।

पूजा समाप्त हो गई। पुजारीजी आसन से उठे।

"अन्दर आओ दुर्गा, प्रसाद लो।"

भोलानाथ ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

"यह कौन हैं, दुर्गा?"

"मेरे एक मित्र हैं, बाबा!"

"अच्छा? बाहर क्यों खड़े हो, बेटा? अन्दर आओ, प्रसाद लो।"

सकुचाते हुये भोला ने मण्डप में प्रवेश किया। उसे भी प्रसाद देकर पुजारीजी ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है, बच्चा?"

"भोलानाथ।"

"भोलानाथ? नाम तो बहुत अच्छा है। कहाँ रहते हो, बेटा?"

दुर्गा ने कहा—"यहाँ से थोड़ी दूर पर इनका बंगला है। इनके पिता बहुत बड़े जमींदार हैं।"

"जमींदार हैं? बहुत अच्छा है। तुम्हारे और कौन-कौन हैं?"

"माता हैं, और छोटी बहिन है, बाबाजी।"

"वाह! बहुत अच्छा है।"

"बाबा, भोलानाथ इस समय मुझे अपने घर लिवा जाना चाहते हैं? बड़ी देर से जिद कर रहे हैं।"

"तो जाओ, हो आओ, बेटा। यह तुमसे इतना स्नेह रखते हैं, तो तुम्हें इनकी बात जरूर माननी चाहिये।"

"मैं तो कहता हूँ कि कल आऊँगा, लेकिन यह नहीं मानते।"

"मैं यह कहता हूँ, बाबाजी, कि इस समय मेरे यहाँ चलेंगे, तो इनका जी बहल जायगा। मेरी मा ने भी इन्हें बुलाया है।"

"ठीक कहते हो, बेटा, तुम्हारे यहाँ हो आवेंगे, तो तबीयत बदल जायगी। हो आओ, दुर्गा।"

"अच्छा, बाबा, जाता हूँ।"

"कभी-कभी यहाँ आया करो, भोलानाथ। तुम बहुत अच्छे लड़के मालूम होते हो।"

प्रसन्न होकर, संकोच भरे स्वर में भोला ने कहा—"हाँ, जरूर आऊँगा, बाबाजी।"

मण्डप से बाहर निकल कर, जल पी कर, पुजारीजी से विदा लेकर वे दोनों मन्दिर से बाहर निकले।

९

दो-तीन मिनट में दोनों मित्रों ने बंगले में प्रवेश किया। विद्युत प्रकाश से वह ऐश्वर्यसम्पन्न घर जगमगा रहा था। उसकी सजावट, सफाई-सुथराई तथा सुव्यवस्था ने दुर्गा को पहले ही दिन मुग्ध कर दिया था, किन्तु इस समय तो दारुण मनोव्यथा के भार से दबा हुआ उसका स्वाभाविक आह्लाद स्वतन्त्र होकर इस तरह किलोलें करने लगा, जैसे प्रगाढ़ अन्धकार के वक्षस्थल से निकल कर ऊषा की सौंदर्य-माधुरी विश्व के प्रांगण में नृत्य करने लगती है। उसे नशा-सा चढ़ आया। उस मादक उल्लास की दशा में उसे ज्ञात हुआ, मानो वे भौतिक विभूतियाँ किसी ऐसे दिव्य-लोक से सम्बन्ध रखती हैं, जहाँ केवल जादू के जोर से पहुँचा जा सकता है, जहाँ जड़ता नहीं है, कटुता नहीं है, दुख नहीं है; शालीनता है, अक्षय सौंदर्य है, असीम सुख है।

अपने कमरे में जा कर, भोलानाथ ने रोशनी की। फिर बोला—"आओ दुर्गा।"

तब दुर्गा ने कमरे में प्रवेश किया।

"इस कुरसी पर बैठो।"

दुर्गा आरामकुरसी पर बैठ गया। कोट उतार कर, खूँटी पर टाँग कर, एक कुरसी खींच कर भोला भी बैठ गया।

"अब तुम यहीं रहा करो, दुर्गा।"

प्रसन्नता से दुर्गा का चेहरा चमकने लगा। अविश्वास की दृष्टि से वह भोला के चेहरे की ओर देखने लगा।

"अकेले-अकेले मेरा जी ऊबता है। तुम रहोगे, तो बड़ा मज़ा आयेगा। दोनों आदमी एक साथ पढ़ेंगे भी।"

"लेकिन, मैंने तो स्कूल छोड़ दिया।"

"स्कूल छोड़ देने से क्या होता है? पढ़ते तो हो।"

दुर्गा मुस्कराता हुआ भोला की ओर कृतज्ञता से देखने लगा।

"भोला भैया!"

भोला ने दृष्टि फेर कर देखा, उजागिर दरवाजे के सामने खड़ा हुआ था।

"कहो।"

"बाबूजी ने कहा है कि जाकर देखो, भोला भैया आ गए हों तो बुला लाओ।"

"बाबूजी कहाँ हैं?"

"गोल कमरे में हैं।"

"अम्मा कहाँ हैं?"

"वह भी वहीं हैं।"

"वहाँ और कौन हैं, उजागिर?"

"बेटी हैं, और तो कोई नहीं है।"

"अच्छा, चलो आता हूँ।"

"जल्दी आइए, भैया।"

"हाँ, हाँ, बहुत जल्द आता हूँ। तुम जाओ।"

दुर्गा की ओर किंचित् दया, किंचित् अवहेलना की दृष्टि से देख कर उजागिर चला गया। दुर्गा जैसे लड़के की इतनी खातिर उसे अच्छी न लगी। इस लड़के में क्या बात है? उसके पास क्या है? निरा कंगाल तो है। इन लोगों की बिरादरी का भी वह नहीं है। फिर उसका इतना मान क्यों हो रहा है? जाने दो यहाँ क्या करना है? यह लोग ऊल-जलूल स्वभाव के तो हई हैं। सौभाग्यवश दुर्गा ने उसकी आँखों का भाव न देखा था, किन्तु भोला ने देखा था और देख कर उसे उजागिर के ऊपर सदा की भाँति क्रोध आया था।

क्रोध को दबा कर मिनट भर बाद भोला ने कहा—"चलो दुर्गा, चलें।"

"तुम हो आओ। मैं यहीं बैठा रहूँगा।"

"यहीं बैठे रहोगे? नहीं, उठो यार। इतना शरमाते क्यों हो?"

"शरमाता तो नहीं हूँ।"

"फिर चलते क्यों नहीं?"

"अच्छा चलो भाई, चलता हूँ।" उठ कर वह भोलानाथ के पीछे-पीछे कमरे से बाहर निकला।

ड्राइंग-रूम सामने आ गया। ग्रामोफोन की आवाज सुनाई देने लगी।

"पापा बहुत अच्छे-अच्छे रिकार्ड ले आये हैं। चलो, सुनो, जी खुश हो जायगा। यह कौन-सा रिकार्ड है? बैंड मालूम होता है।"

"तुम ग्रामोफोन बजा लेते हो, भोला?"

"हाँ, हाँ, इसमें मुश्किल क्या है ? एक बार देख लोगे, तो तुम भी बजाने लगोगे।"

"अच्छा !"

"हाँ, यार, बिलकुल सरल है। चलो, अभी दिखाता हूँ।"

ड्राइंग-रूम के द्वार पर पहुँचते ही दुर्गा को संकोच ने फिर आ घेरा। वह ठिठक कर खड़ा हो गया। पर्दा उठाते हुए भोलानाथ ने कहा—"आओ दुर्गा। फिर शरमा रहे हो ?"

"नहीं, यार, चल तो रहा हूँ।"

तब भोला के पीछे-पीछे उसने उस कमरे में प्रवेश किया। अन्दर पहुँच कर वह दंग रह गया। ऐसी सजावट उसने आज तक कहीं न देखी थी। बिजली के झाड़, शीशे, चित्र, खिलौने, सोफ़े, कोच, मेज़, कालीन, परदे—सब एक क्षण में उसकी आँखों के सामने सिनेमा के चित्रों की भाँतिघूम गये। एक कोच पर भोला के माता-पिता बैठे थे। कोच के सामने एक छोटी-सी गोल मेज थी। मेज पर ग्रामोफोन रखा हुआ था। मेज के समीप फर्श पर पड़े हुए एक मोटे गद्दे पर पूर्णिमा बैठी हुई थी।

हाथ जोड़ कर दुर्गा ने प्रणाम किया। भोला के पिता ने सिर हिला कर, माता ने मुस्करा कर आशीर्वाद दिया। तब भोला और दुर्गा एक सोफ़े पर बैठ गये।

दुर्गा की ओर देख कर, हाथ जोड़ कर पूर्णिमा ने नमस्कार किया। हाथ जोड़ कर दुर्गा ने नमस्कार का उत्तर दिया।

बैंड समाप्त हो गया। कमरे में संगीतमय निस्तब्धता छा गई। ग्रामोफोन की कुञ्जी घुमाते हुए उन दोनों की ओर देख कर बाबू सिद्धनाथ ने पूछा—"यही तुम्हारे दोस्त हैं, भोला ?"

"जी हाँ।"

"इनका नाम क्या है, बेटा?"

"इनका नाम दुर्गादत्त है, पापा!"

"अच्छा देखो, इस वक्त इन्हें यहीं खाना खिलाना।"

"बहुत अच्छा, पापा!"

रिकार्ड लगा, खटका खुला, सुई लगी। कुशल गायक के सुमधुर आलाप से कमरा गूँज उठा। एक गज़ल छिड़ गई—

'वस्ल की शब हो चुकी,
रुखसत क़मर होने लगा।
आफ़ताबे-रोज़े-महशर,
जलवागर होने लगा।'

आनन्द की तरंगों में हिलोरें लेता हुआ, दुर्गा ध्यान से सुनने लगा। अब इस समय उसके हृदय में लज्जा की वह खटक न थी। भोला के माता-पिता के व्यवहार ने उसे शान्त कर दिया था।

ग्रामोफ़ोन भी कितनी अच्छी मशीन है! एक-एक शब्द कितना साफ़ सुनाई देता है। इसका बनानेवाला अद्भुत बुद्धिवाला मनुष्य होगा। वह साधारण आदमी नहीं हो सकता। भोला के पिता के वस्त्र कितने कीमती हैं! उनकी रेशमी कमीज़ कैसी झलझला रही है। बटन के नग मोतियों की तरह चमक रहे हैं। उनकी अँगूठी में जड़े हुये नीले पत्थर से प्रकाश की रेखायें निकल रही हैं। कोई बहुमूल्य पत्थर है। भोला की माता की कत्थई रंग की रेशमी साड़ी कितनी बढ़िया है! उनका वह मोतियों का हार कैसा सुन्दर है! नाक में कील, कानों में ईयर-रिंग,

हाथों में कंगन—बस, इतने ही गहने वह पहिने हुए हैं। कैसी सुरुचि है! सुशिक्षा का यही फल है। जो स्त्रियाँ बहुत से गहने लाद लेती हैं, वे देखने में कितनी खराब मालूम होती हैं। इनके चेहरे पर कैसी शान्ती है! यह भी सुशिक्षा का ही फल है।

तब उसकी दृष्टि पूर्णिमा की ओर गई। वह अकचका गया। पूर्णिमा उसकी ओर एकटक देख रही थी। दोनों की आँखें मिलीं। होश में आकर पूर्णिमा फ़र्श की ओर ताकने लगी। दृष्टि हटा कर, दुर्गा दीवार की ओर देखने लगा। पूर्णिमा?...उसकी रेशमी साड़ी बुरी तो नहीं है। उसका हार, उसके ईयर-रिंग? अच्छे ही हैं! उसके लंबे केश, उसकी आँखें, उसकी-नाक, उसके होंठ, उसकी ठुड्डी...तबीयत क्यों परेशान हो रही है? शायद गरमी ज्यादा है, हवा बन्द है। लेकिन बिजली के पंखे भर्र-भर्र करते हुये चल रहे हैं। शायद सवेरे से अभी तक भोजन न करने के कारण ऐसी हालत है। जरूर यही बात है। लेकिन भूख तो नहीं मालूम हो रही है। फिर?

"दुर्गा?"

"हाँ," चौंक कर, भोला की ओर देखते हुये दुर्गा बोला।

"सुनो, यह रामायण का रिकार्ड है। क्या सोच रहे थे, यार?"

"कुछ...तो...नहीं। नया रिकार्ड लगा क्या?"

"हाँ।"

चुप होकर दोनों सुनने लगे —

गई भवानी भवन बहोरी। बन्दि चरण बोली कर जोरी॥
जय-जय-जय गिरिराज किशोरी। जय महेश-मुख-चन्द्र-चकोरी॥
जय गजबदन षडानन माता। जगत-जनन दामिन द्युतिगाता॥
नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥

दुर्गा ये पंक्तियाँ कितनी ही बार पढ़ चुका था, किन्तु इस समय सुनने में जैसा आनन्द प्राप्त हुआ, वैसा कभी न हुआ था। पूजा समाप्त हो गई। आशीर्वाद पाकर, वाटिका से निकल कर, विदेहकुमारी सखियों के साथ राजमहल की ओर चली गई। रिकार्ड खतम हो गया। संगीत की विकम्पित प्रतिध्वनियाँ उस सुसज्जित कमरे में गूँज-गूँज कर निःशब्द होने लगीं। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर दुर्गा दूसरे रिकार्ड की प्रतीक्षा करने लगा।

यह क्या? वह उसकी ओर फिर देख रही है। क्यों? उसके कपड़े साफ़ नहीं हैं क्या? नहीं, काफ़ी साफ़ हैं। कल ही तो उसने कपड़े साफ़ किये थे। अपने हाथों से धोकर कपड़े जितने साफ़ किये जा सकते हैं, उतने तो हुई हैं। नहीं, यह बात नहीं हो सकती। जेब के पास कमीज जरासी फट गई है। लेकिन कमीज इतनी तो नहीं फटी है कि किसी को दूर से दिखाई दे जाय। यहाँ आने से पहले इसे सी लेना चाहिये था। लेकिन सीने का मौका कहाँ था? नहीं, यह बात नहीं हो सकती। फिर, वह क्यों......होगी कोई बात, क्या करना है? यह क्या? फिर घबराहट मालूम होने लगी।

नया रिकार्ड लगा और समाप्त हो गया। कई रिकार्ड और बजे, किन्तु दुर्गा कुछ न सुन सका। उसकी मानसिक विकलता क्रमशः जोर पकड़ रही थी। भाँति-भाँति के संगत-असंगत विचार संगीत की अस्पष्ट ध्वनियों से निकल-निकल कर उसके मस्तिष्क में मदिरा-सेवियों की तरह झूमते-झूमते चल रहे थे।

"अब भोजन करना चाहिये भोला की मा," ग्रामोफ़ोन के पुर्जे खोलते हुये बाबू सिद्धनाथ ने कहा।

"हाँ, नौ बजने वाले हैं। मैं जाकर ठीक-ठाक कराती हूँ।" सुभद्रा-

देवी सोफ़े से उठ कर कमरे के बाहर चली गईं।

"दुर्गा !"

"हाँ !"

"ग्रामोफ़ोन कुछ अच्छा लगा, यार ?"

"हाँ, अच्छा क्यों नहीं लगा।"

"मुझे तो ग्रामोफ़ोन से प्यानो ज्यादा अच्छा मालूम होता है।"

"प्यानो !"

"हाँ, यार ! उधर देखो, उस कोने में वह रखा तो हुआ है।"

उस बड़े प्यानो की ओर देखते हुये दुर्गा ने पूछा—"तुम प्यानो बजाते हो क्या, यार ?"

"नहीं, मैं तो अच्छी तरह नहीं बजा पाता। लेकिन पूनो खूब बजाती है। चलो नजदीक से देखो।"

दोनों उठ कर प्यानो के समीप जाकर उसका निरीक्षण करने लगे। भोला दुर्गा को उस अद्भुत बाजे की विशेषताएँ समझाने लगा। किन्तु वह कुछ न समझ सका, केवल हाँ-हूँ करता रहा।

"पूनो !"

"क्या है, पापा ?" अलबम के चित्रों से दृष्टि हटा कर, पिता की ओर देखती हुई पूर्णिमा ने उत्तर दिया।

धुएँ के सुरसुरे फेंक कर बाबू साहब ने पूछा—"क्या कर रही हो, बेटी ?"

"यह अलबम देख रही हूँ।"

"जरा प्यानो तो बजाओ, बेटी। कई दिन से तुमने कुछ नहीं सुनाया।"

"कल...सुनाऊँगी, पापा! इस समय..."

"क्यों, क्या बात है, बेटी? तबीयत अच्छी नहीं है क्या?"

"नहीं ..तबीयत तो अच्छी है।"

"तो फिर उठ पूनो। देर न कर।"

विवश होकर, अलबम एक ओर रख कर पूर्णिमा सोफे से उठ कर प्यानो की ओर चली।

"जो नई चीज सीखी हो वही सुनाना, बेटी!"

"अच्छा, पापा!"

"प्यानो से अलग हट कर भोला और दुर्गा एक कोच पर जा बैठे। पूर्णिमा स्टूल पर बैठ गई, रोशनी जलाई, गाने के पृष्ठ सामने लगा दिये। फिर उसकी सुकोमल अँगुलियाँ परदों पर दौड़ने लगीं।

प्यानो बजने लगा। उस विचित्र बाजे की विचित्र ध्वनियाँ परदों से निकल-निकल कर उस जगमगाते हुए कमरे में गूँजने लगीं। विचित्र समाँ बँध गया। आँखें बन्द करके सुनते हुए दुर्गा के मस्तिष्क में भाँति-भाँति के चित्र घूमने लगे। कभी ऐसा जान पड़ता, मानो निर्मल सुनील गगन में श्वेत पक्षी उड़े जा रहे हों, कभी सुविस्तृत जलाशय में खिले हुए कमल-दल दृष्टिगोचर होते, कभी कोई सुरम्य उपवन जहाँ बसन्त-श्री मन्द-मन्द मुस्करा रही हो, कभी किसी महासागर में उठती हुई उत्ताल तरंगें और उनमें झूमती हुई नाविकों की डोंगियाँ, कभी कोई भयावह सौन्दर्य वाला जल-प्रपात! वह क्रमशः आनन्दोन्माद की उस गहराई में पहुँच गया, जहाँ अनुभूति उन्मत्त होकर मूर्छित हो जाती है।

प्यानो की मधुर ध्वनियाँ सहसा बहुत जोर पकड़ गईं, ऐसा जान पड़ने लगा, मानो मूसलाधार पानी बरस रहा हो। फिर वे क्रमशः मन्द

पड़ने लगीं, मानो वृष्टि धीरे-धीरे धीमी हो रही हो। एकाएक प्यानो बन्द हो गया। रोशनी बुझा कर स्टूल से उतर कर पूर्णिमा खड़ी हो गई। सचेत होकर, आंखें खोल कर, दुर्गा मुस्कराता हुआ उसकी ओर देखने लगा। एक बार उसकी ओर देख कर सन्तुष्ट होकर पूर्णिमा पिता की ओर चली।

"कैसा अच्छा बाजा है, दुर्गा।"

"बहुत अच्छा है! वाह!"

"पूनो इसे कितना अच्छा बजाती है!"

"हाँ, खूब बजा लेती हैं।"

"हम दोनों ने साथ-साथ सीखना शुरू किया था, लेकिन मैं तो उसकी तरह नहीं बजा पाता, यार।"

"हाँ!"

भोला ने उसके चेहरे की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा, किन्तु उसके उस भाव का मर्म न समझ सका।

"भोजन करने चलिये, हुजूर।" एक सेवक ने कमरे में आकर कहा।

"अच्छा चलो, आते हैं। भोला, खाना खाने चलो।" सोफ़े से उठ कर बाबू साहब बेटी को साथ लिये कमरे के बाहर चले गये।

"चलो दुर्गा, खाना खा लें।"

"मुझे तो भूख नहीं है, यार।"

"तुम फिर तकल्लुफ करने लगे!"

"नहीं, भाई तकल्लुफ नहीं कर रहा हूँ। वाकई मुझे भूख नहीं मालूम हो रही है।"

"खैर चलो थोड़ा-सा खा लेना। उठो तुम्हें चलना पड़ेगा। तुम न खाओगे, तो मैं भी न खाऊँगा।"

"अच्छा भाई, चलो।" विवश होकर दुर्गा उठ खड़ा हुआ।

ड्राइंग-रूम से निकल कर, जनानखाने में पहुँच कर दोनों मित्रों ने भोजन-गृह में प्रवेश किया।

"आओ भोला, इधर बैठो।"

भोजन-गृह विद्युत-प्रकाश से आलोकित था। कई मोटे-मोटे कम्बलों पर सफेद चाँदनी बिछी हुई थी। वे दोनों एक ओर बैठ गये। सेवक भाँति-भाँति के व्यञ्जनों से भरी हुई थालियाँ ला-ला कर सब के सामने रखने लगे। भोजन शुरू हुआ। रोटी का टुकड़ा दाल में डुबोते हुये बाबू साहब ने कहा—"भोला, तुम्हारे दोस्त शर्मीले मालूम होते हैं, इन्हें ठीक तरह खिलाना।"

"हाँ, दुर्गा लजीले स्वभाव का है," सुभद्रादेवी ने कहा।

"यह तो खाने आते ही नहीं थे, पापा। बहुत जिद करने पर आये हैं।"

"इसमें शरमाने की क्या बात है? यहाँ इन्हें शरमाना न चाहिये।"

दुर्गा मुँह चलाता हुआ मुस्कराने लगा।

"दुर्गा को तुम यहीं रोक लो, भोला। दोनों आदमी साथ-साथ पढ़ोगे, तो पढ़ाई अच्छी होगी।"

"यही तो मैं इनसे कह रहा हूँ, लेकिन यह तैयार नहीं हो रहे हैं।"

"क्यों, इसमें हरज क्या है?"

"यह एक मन्दिर में रहते हैं। वहाँ के पुजारीजी इन्हें बहुत मानते

हैं। यह कहते हैं कि पुजारीजी के साथ रहने का ये वादा कर चुके हैं।"

"तो पुजारीजी से इजाजत माँग लें। इसमें क्या अड़चन है? पढ़ने के लिए तो इन्हें यहाँ ज्यादा सुभीता रहेगा। क्यों, भोला की मा?"

"हाँ," जल पीकर सुभद्रादेवी ने कहा। "यहाँ रहेंगे, तो पढ़ाई ठीक तरह होगी। भोलानाथ का जी भी बहला रहेगा।"

दुर्गा के चेहरे की ओर देखते हुये भोला ने पूछा—"बोलो दुर्गा, क्या कहते हो? राजी हो?"

"हाँ...मैं राजी हूँ। लेकिन बाबाजी से जरा पूछ लूँ।"

"हाँ-हाँ, पूछ लो," बाबू साहब बोले—"मेरा तो ख्याल है कि वह न रोकेंगे।"

"नहीं, पापा, वह ऐसे आदमी नहीं हैं। फ़ौरन इजाजत दे देंगे।"

दुर्गा का हृदय सन्तोष से भर गया।

भोजन समाप्त हो गया। बाबू साहब अपने शयनागार में चले गये। भोला और दुर्गा ने बाहर जाकर, ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया।

उस समय कमरे में केवल एक बत्ती जल रही थी। मन्द, रहस्यमय प्रकाश फैला हुआ था। दोनों एक सोफ़े पर बैठ गये।

"और बत्तियाँ जला दूँ क्या, यार?"

"नहीं रहने दो, भोला। इतनी रोशनी काफी तो है।"

"ग्रामोफ़ोन बजाऊँ, सुनोगे?"

"नहीं, अब इस वक्त रहने दो। किसी दूसरे दिन सुनाना।"

"अच्छा एक रिकार्ड सुन लो। वह मुझे बहुत पसन्द है। ज्यादा न सुनना।"

"अच्छा, बजाओ।"

तब दोनों उस मेज के सामने जा बैठे, जिस पर ग्रामोफोन रखा हुआ था। पुरजे लगा कर, सुई बदल कर, कुञ्जी भर कर भोला बस्ते में वह रिकार्ड ढूँढ़ने लगा।

"मिल गया। वह रिकार्ड यह है। बड़े मजाक का रिकार्ड है दुर्गा, सुन कर तबीयत खुश हो जायगी।"

"अच्छा, लगाओ सुनूँ।"

रिकार्ड लगा कर, खटका दबा कर भोला ने सुई लगा दी। ग्रामोफोन बजने लगा। किसी स्टेशन के टिकट घर के सामने खड़े हुये यात्रियों का कोलाहल सुनाई देने लगा। फिर टिकट बाबू की डाँट की आवाज आई।

"गाड़ी आती है—गाड़ी आती है!" घण्टा बजा, गाड़ी भक-भक करती हुई स्टेशन पर आ डटी। एक पर एक गिरते हुये मुसाफिर धक्कम-धक्का करते डब्बों में घुसने लगे। मेवा-फ़रोशों, हलवाइयों, तमोलियों, की आवाजें सुनाई देने लगीं। सीटी बजी, गाड़ी भक-भक करती हुई स्टेशन से खिसकने लगी। हा-हा-हा! भोला और दुर्गा भी ठठा कर हँसने लगे। साजिन्दों ने साज मिलाये, गाना छिड़ गया। उस गाने से भी हँसी की फुहारें छूट रही थीं। गाना समाप्त हुआ। हा-हा-हा! हा-हा-हा! दोनों मित्र फिर कहकहे लगाने लगे। रिकार्ड खत्म हो गया।

"कहो, यार, कैसा रिकार्ड है?" रिकार्ड अलग करते हुये भोला ने पूछा।

"बहुत अच्छा है। भाई, यह रिकार्ड तो मैंने पहले कभी नहीं सुना था।"

"और सुनोगे ?"

"सुनाओ।"

तब दूसरा रिकार्ड लगाया गया। इसमें किसी न्यायालय का वर्णन था।

पाँच मिनट में रिकार्ड समाप्त हो गया। पुरजे खोलते हुये भोला ने पूछा—"कहो, यह कैसा रहा ?"

"इसे तो मैं नहीं समझ सका, भाई !"

"यह विलायत की एक अदालत का रिकार्ड है। इसमें वकीलों की बहस है। यह भी मजेदार है।"

"हाँ, सुनने में मजा तो मुझे भी मिला।"

सहसा कमरे में किसी ने प्रवेश किया। दृष्टि उठा कर दुर्गा ने देखा, पूर्णिमा उन दोनों की ओर चली आ रही थी।

"पूनो।"

"हाँ, दादा।"

"सोने नहीं गईं ?"

"अभी तो नींद नहीं मालूम हो रही है, दादा !"

"अच्छा, पूनो, अपना अलबम ले आओ। इन्हें दिखलाऊँगा।"

"यहीं तो रखा है।"

उस ओर जा कर, पूर्णिमा मेज पर पड़ा हुआ अलबम उठा लाई।

"बैठ जा, पूनो !" भोला ने उसके हाथ से अलबम ले लिया।

पूर्णिमा भोला की बगल में बैठ गई।

"देखो, दुर्गा ! पापा जब विलायत गये थे, तो वहाँ से उन्होंने पूनो के पास ये तस्वीरें भेजी थीं।

"अच्छा, ये विलायत की तस्वीरें हैं !"

"हाँ, देखो। यह वेस्टमिन्सटर ऐबे है। यहाँ इंगलैण्ड के बड़े-बड़े लोग दफ़न किये जाते हैं। यह टेम्स नदी है। यह टेम्स का पुल है। ये पार्लामेंट की इमारतें हैं। यह हाइड पार्क है। यह लन्दन की एक बड़ी मशहूर सड़क है। यह सेन्ट पाल्स गिर्जाघर है। यह फ्लीट स्ट्रीट है—यहाँ लन्दन के बड़े-बड़े अखबार छपते हैं।" एक-एक करके भोला तस्वीरें पलटने लगा। दुर्गा मुग्ध नेत्रों से देखता रहा।

"कैसी तस्वीरें हैं ?"

"वाह ! बहुत अच्छी हैं।"

पूर्णिमा ने कहा—"यह देखिये, यह साउतम्पटन का बन्दरगाह है।"

"हाँ, देखो, कितने जहाज लगे हुये हैं।"

"अच्छा, यह बन्दरगाह है।"

इस चित्र को दुर्गा देर तक देखता रहा। क्यों ? यह वह स्वयं न जानता था।

अलबम समाप्त हो गया। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर दुर्गा ने कहा—"अच्छा, भोला, अब मैं जाऊँगा।"

"अब इस वक्त कहाँ जाओगे ? यहीं सो रहो। सबेरे जाकर असबाब ले आना। मैं भी साथ चला चलूँगा।"

पूर्णिमा ने अनुमोदन किया—"हाँ, इस वक्त जाकर क्या कीजियेगा ? अब सोना ही तो है।"

"नहीं, बाबाजी मेरा इन्तजार करते होंगे। जब तक न जाऊँगा,

वह जागते रहेंगे। उन्हें अब परेशानी हो रही होगी। साढ़े दस बज चुके हैं।"

"तो इस वक्त न ठहरोगे?"

"नहीं भाई, अब इस वक्त माफ करो, सवेरे आ जाऊँगा।"

पूर्णिमा शंकित भाव से बोली—"तो सवेरे जरूर आइयेगा न?"

"हाँ, जरूर आऊँगा।" पूर्णिमा की आँखों में दुर्गा को फिर वही अज्ञेय भाव दिखाई दिया।

"अच्छा तो जाओ, दुर्गा। सवेरे मैं खुद आकर तुम्हें लिवा लाऊँगा।"

ड्राइंग-रूम से निकल कर तीनों बरसाती की ओर चले।

"नमस्कार, भोला!" सायबान की सीढ़ियों पर उतरते हुए दुर्गा ने कहा।

"नमस्कार!"

"नमस्कार!" यह पूर्णिमा की आवाज थी।

"नमस्कार!" दुर्गा के स्वर में खटक थी।

वह तेजी से फाटक की ओर बढ़ा।

"दुर्गा!"

रुक कर, मुड़ कर दुर्गा ने पूछा—"क्या है, भोला?"

"किसी को साथ कर दूँ?"

"नहीं, कोई जरूरत नहीं है। मैं अकेला चला जाऊँगा।" वह फिर आगे बढ़ा।

फाटक पर पहुँच कर, मुड़ कर उसने देखा, भोला और पूर्णिमा अभी बरसाती में खड़े हुए उसकी ओर देख रहे थे। एक दीर्घ निःश्वास

छोड़ कर वह सड़क पर चलने लगा। विद्युत-प्रकाश से आलोकित वह सड़क बिलकुल सूनी पड़ी थी। शीतल समीर के झोंकों में हिलोरें लेते हुए वृहदाकार वृक्षों के साये जमीन पर इस तरह नाच रहे थे, मानो हृदय में वेदना नृत्य कर रही हो। तिमिराच्छादित गगन-मण्डल में तारिकाएँ इस तरह मुस्करा रही थीं, मानो वेदना-व्यथित हृदय में आशा की किरणें चमकने लगी हों।

हर्ष और विषाद, आशा और निराशा से भरे हुए उस विचित्र वायुमण्डल में साँस लेता हुआ दुर्गा सुव्यवस्थित गति से चला जा रहा था। पिछले कई घण्टों की बातें उसके मस्तिष्क में एक-एक करके आ रही थीं। उन पर विचार करने से उसे सुख मिल रहा था, शान्ति मिल रही थी, किन्तु उस सुख में, शान्ति में किंचित् खटक थी। उस खटक का कारण था पूर्णिमा की आँखों का वह भाव। वह भाव क्या था? अरुचिकर दया थी? किन्तु उसकी मुस्कान, और उसके शब्द तो उस भाव से मेल न खाते थे। तो फिर? होगा कुछ। मा! ओफ, उस स्नेहमयी मा से नाता टूट गया—सदा के लिये नाता टूट गया। उसकी आँखों में आँसू छलक आये। वैसी देख-रेख, वैसा प्यार अब कौन करेगा? आँसू ढुलक-ढुलक कर बहने लगे। उन्हें रोकने का प्रयत्न उसने न किया। उसकी वह पावन दुर्बलता इस समय यहाँ देखने वाला कौन था? कोई होता भी तो क्या इस समय वह परवाह करता? नहीं, न करता। आँसुओं की उस बाढ़ के कारण रास्ता धुँधला दिखाई देने लगा, पैरों की गति धीमी हो गई। जो निरीह है, संसार में अकेला है, जिसके ऊपर किसी का कोई उत्तरदायित्व नहीं, उसकी दुर्बलता से किसी का क्या बिगड़ेगा? आह, यह विकट अकेलापन! प्रकृति की पावन माया-ममता और मानव-समाज की दया-करुणा के बीच स्थित होते हुए भी ऐसा अकेलापन! इस अकेलेपन का ओर-छोर नहीं। नहीं है?

है—हाँ, है तो। उसकी सीमा के उस पार तो कई करुणामयी मूर्त्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं—हाँ, हैं! वहाँ पुजारीजी हैं, सुभद्रा देवी हैं, भोला है और—पूर्णिमा है। पूर्णिमा? हाँ, वही पहली सरीखी पूर्णिमा! आँसू सूखने लगे, वेदना का भारी बोझ क्रमशः हलका पड़ने लगा। उसाँसें भरते हुए पवन-देव उसकी उद्वेलित आत्मा को थपकियाँ देने लगे। चाल तेज हो गई।

आँखें पोंछ कर दुर्गा ने मन्दिर में प्रवेश किया। बारहदरी में टिम-टिमाते हुये दीपक का मन्द प्रकाश चारों ओर छाये हुए प्रगाढ़ अंधकार को और अधिक प्रगाढ़ कर रहा था। उसका अनुमान सत्य था, बाबाजी जाग रहे हैं—हाँ, उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कैसे दयावान हैं बाबाजी! एक उसके पिता भी हैं। जाने दो उनकी बात। धीरे-धीरे वह आगे बढ़ने लगा।

"दुर्गा!"

"जी हाँ।"

"आ गए?"

"जी हाँ।"

"बड़ी देर लगा दी?"

"हाँ, बाबा, देर हो गई। वे लोग आने ही नहीं देते थे, जबरदस्ती आया हूँ।"

"बहुत अच्छा किया, आ गए। मैं तुम्हारा बड़ी देर से इन्तजार कर रहा हूँ। वे लोग बड़े भले आदमी मालूम होते हैं।"

"जी हाँ, बड़े भले लोग हैं। वे लोग कहते हैं, बाबा, कि यहीं आकर रहो। भोला ने भी बड़ी ज़िद की है।"

"अच्छा! वे लोग तुम्हें अपने यहाँ रखना चाहते हैं?"

"जी हाँ। भोला कहता है कि यहाँ आकर रहो, दोनों आदमी एक साथ पढ़ेंगे। इसी लड़के से उस दिन झगड़ा हो गया था, बाबा।"

"वही लड़का है?"

"जी हाँ!"

"वाह! बहुत अच्छा लड़का है। मेरा भी यही ख्याल था कि वह खराब लड़का नहीं है।"

"हाँ, बाबा, वह बहुत अच्छा लड़का है। उसने पत्र लिख कर मुझसे माफ़ी माँगी थी। मुझे अपने घर बुलाया था। उस दिन भी जब मैं उसके घर गया, तो उसने मेरी बड़ी खातिर की थी।"

"वाह! भले आदमी ऐसे होते हैं। चलो, दुर्गा, भोजन कर लो।"

"भोजन तो मुझे वहीं करना पड़ा, बाबा। मैं तो नहीं खा रहा था, लेकिन जब उन लोगों ने बहुत ज़िद की, तो खाना पड़ा।"

"अच्छा किया, खा लिया। जो अपनी इतनी खातिर करे, उसे अपनी तरफ़ से शिकायत का मौका न देना चाहिए। तो वहाँ जाने के बारे में क्या निश्चय किया?"

"मैंने तो कह दिया कि बाबा जो कुछ कहेंगे, मैं वही करूँगा?"

"मेरी तो इच्छा यही है बेटा, कि तुम मेरे साथ रहो। उन लोगों का बंगला यहीं नजदीक ही तो है न?"

"जी हाँ, यहाँ से पन्द्रह मिनट का रास्ता है। पढ़ाई की वहाँ ज्यादा सुविधा है।"

"तो फिर वहीं रहा करो। क्या हरज है? पढ़ाई भी ठीक तरह से होगी, तुम्हारा मन भी बहला रहेगा। लेकिन यहां तुम्हें नित्य आना पड़ेगा।"

"हाँ, नित्य आऊँगा, बाबा।"

"अच्छा, अब आराम करो, काफ़ी देर हो चुकी है।"

"अच्छा, बाबा। चिराग बुझा दूँ ?"

"हाँ, बुझा दो।"

दीपक बुझा कर, दुर्गा अपने बिस्तर पर लेट गया। क्या वह अकेला है ? नहीं, जिसका संरक्षक ऐसा उदार-हृदय व्यक्ति है, वह अकेला नहीं। मन-ही-मन उसने पुजारीजी को प्रणाम किया। उसके प्रताड़ित हृदय की वह असीम कृतज्ञता, वह अगाध श्रद्धा, वह सरल स्नेह, मानो पुजारी-जी के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पित करने लगे। मा ! उफ ! उसकी आँखों में फिर आँसू छलक आये, हृदय में हूक उठने लगी। विकट विकलता की दशा में वह करवटें बदलने लगा।

१०

दूसरे दिन तड़के ही उठ कर, शौचादि से निवृत्त होकर दुर्गा अपने कपड़े साफ़ करने लगा। बम्बे के नीचे बैठ कर, साबुन रगड़-रगड़ कर वह कपड़े साफ़ करने लगा। कपड़े ज्यादा न थे—तीन कुरते थे, दो धोतियाँ थीं, दो अँगौछे थे, दो टोपियाँ थीं। आधे घण्टे के परिश्रम के बाद कपड़े साफ़ हो गये। आकाश साफ़ था। बाल सूर्य की किरणें मन्दिर को प्रकाश से भरने लगी थीं। दो पेड़ों की डाल में डोर बाँध कर दुर्गा ने उस पर कपड़े फैला दिये। फिर बारहदरी की सीढ़ियों पर बैठ कर वह विश्राम करने लगा। इस समय उसके शरीर से वह थकावट दूर हो चुकी थी, जो आँखें खुलने पर मालूम हुई थी। इस समय उसकी रग-रग में स्फूर्ति दौड़ रही थी। हृदय में उमंगें उठ रही थीं।

इधर-उधर फुदकते हुये भाँति-भाँति के सुन्दर पक्षियों का कलरव वाटिका में गूँज रहा था। सौरभ-सिक्त समीरण वृक्षों से हरित पल्लवों से, नन्हें-नन्हें सुकोमल पौधों से, रंग-बिरंगे पुष्पों से अठखेलियाँ कर रहा था। रंग-बिरंग की सुन्दर तितलियाँ फूलों का रस लेकर इधर-उधर

उड़ रही थीं। लम्बी-लम्बी घासों और पत्तों पर बिछी हुई ओस की नन्हीं-नन्हीं बूँदों में स्वर्ण रश्मि-रेखाएँ नृत्य कर रही थीं। मंत्र-मुग्ध दृष्टि से दुर्गा प्रकृति की वह मनोमुग्धकारी क्रीड़ा देख रहा था। उस समय उसे ऐसा जान पड़ रहा था जैसे जीवन सुखद स्वप्न है, मानो उसमें कोई खटक नहीं, वेदना नहीं, चिन्ता नहीं, निराशा नहीं। हाँ, उसे ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो सारा विश्व उसी का है। आकाश, पृथ्वी, जल, थल, सूर्य, चन्द्रमा, तारिकाएँ, मानव-समाज, सब उसी के हैं। क्या वह अकेला नहीं? नहीं, वह अकेला नहीं। जिसके लिये यह सारी विभूतियाँ हैं, वह अकेला कैसे है? एक दिव्य साम्राज्य का स्वर्ण द्वार उसे अपने सामने खुला दिखाई देने लगा—वह साम्राज्य जहाँ सौंदर्य है, संगीत है, अपरिमित आह्लाद है। उस साम्राज्य में क्या वह प्रवेश न करेगा? अवश्य प्रवेश करेगा—हाँ, अवश्य प्रवेश करेगा! और वहाँ पहुँच कर, वह अपना आधिपत्य स्थापित करेगा—हाँ, ऐसा आधिपत्य स्थापित करेगा कि फिर उसे वहाँ से निर्वासित करने का कोई साहस न कर सके। किन्तु...

दो घण्टे बीत गये। कपड़े सूख गये। कपड़े पहन कर, दुर्गा भोला की प्रतीक्षा करने लगा। अभी तक नहीं आया। न आवेगा क्या? उन लोगों की राय बदल गई क्या? शायद बदल गई—हाँ, जरूर बदल गई। बदल जाने दो, क्या करना है? बाबा की तरह वह लोग दयालु नहीं हो सकते। कैसे हो सकते हैं? अमीर गरीब के ऊपर दया कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता—नहीं कर सकता! यहाँ किस बात की कमी है? बाबा कितनी खातिर करते हैं, हर समय मुँह देखते रहते हैं। पढ़ने के लिये वह पुस्तकालय है—पुस्तकें वहाँ भरी पड़ी हैं। अकेले में पढ़ाई जितनी अच्छी हो सकती है, किसी के साथ उतनी अच्छी नहीं हो सकती। वहाँ जाना ठीक नहीं, बिलकुल ठीक नहीं। आकाश कैसा शून्य है, बादल का एक टुकड़ा भी नहीं दिखाई दे रहा है। पानी बरसता तो अच्छा

होता। हाँ, अब वर्षा होनी चाहिये। उफ! कैसी भयानक गरमी है! अब तो नहीं सहा जाता। बाबा अभी तक गंगा-स्नान करके नहीं लौटे!

ऐं! यह किसकी गाड़ी आ रही है? भोला की है क्या? उसी की मालूम होती है। हाँ उसी को है। गाड़ी की ओर से दृष्टि हटा कर दुर्गा दूसरी ओर देखने लगा।

चारहदरी के समीप पहुँच कर गाड़ी रुकी। कोचवान नीचे उतरने लगा। किन्तु उसके जमीन पर आने के पहले ही दरवाजा खोल कर, भोली शीघ्रता से उतर पड़ा और सीढ़ियों पर चढ़ने लगा।

"नमस्कार, दुर्गा!"

"नमस्कार, भाई। आओ।"

"माफ करना, यार, मुझे कुछ देर हो गई। चलो उठो, तैयार हो न?"

"आओ, बैठो तो।"

जूते उतार कर भोला कम्बल पर दुर्गा के समीप बैठ गया।

"बाबाजी कहाँ हैं?"

"गंगा-स्नान के लिये गये हुए हैं।"

"उनसे तुम इजाजत ले चुके हो न?"

"हाँ, रात के समय मैंने उनसे पूछा तो था।"

"उन्होंने क्या कहा?"

"कहा कि मैं तो यही चाहता हूँ कि तुम मेरे ही साथ रहो, लेकिन पढ़ाई-लिखाई का अगर वहाँ ज्यादा सुभीता हो तो वहीं जाकर रहो।"

"तो फिर बात पक्की है न? तुम तो कल ही वचन दे चुके हो?"

"हाँ, लेकिन..."

आश्चर्य से दुर्गा के चेहरे की ओर देखते हुए भोला ने कहा—"इसका मतलब क्या है, दुर्गा? अब मैं तुम्हारा कोई उज्र न सुनूँगा।"

मुस्कराता हुआ दुर्गा अपने उस प्रिय मित्र के चेहरे की ओर देखने लगा।

"बार-बार हीला-हवाला ठीक नहीं होता, यार!" भोला ने किंचित् पीड़ित स्वर में कहा।

"अच्छा, भाई, बाबाजी को आ जाने दो। जरा उनसे फिर पूछ लूँ।"

"अब उनसे पूछने की क्या जरूरत है? वह तो इजाजत दे ही चुके हैं।"

"लेकिन उनका इन्तजार करना तो जरूरी है ही। देखो, यहाँ कितना सामान बाहर पड़ा हुआ है। यों चले चलना तो ठीक न होगा।"

"हाँ, तुम्हारी यह बात मैं मानता हूँ। कोई हर्ज नहीं, उन्हें आ जाने दो। जल्दी किस बात की है?"

"वह आते ही होंगे। उन्हें गये हुए बड़ी देर हुई।"

"अच्छा, आज मैंने छुट्टी ले ली है। अर्जी भेज कर आया हूँ।"

"क्यों, यार?"

"ऐसे ही। मैं सोच रहा हूँ कि आज दोपहर के समय किसी तरफ घूमने चलें।"

"लेकिन धूप तो बड़ी तेज है।"

"धूप का क्या डर है? गाड़ी में चलेंगे।"

"अच्छी बात है।"

"दुर्गा, तब तक तुम अपना सामान तो बांध लो, यार।"

"अभी बांध लूँगा। थोड़ा-सा सामान तो है ही, देर कितनी लगेगी?"

"सैर में बड़ा मजा आयेगा, यार। मैं सोच रहा हूँ कि गंगा के किनारे चल कर बोटिंग की जाय।"

"यह तो अच्छा सोचा है, भाई! वाकई बड़ा मजा आयेगा। लो, बाबा आ गये!"

"आ गये! बहुत अच्छा हुआ, देर तक इन्तजार नहीं करना पड़ा।" वे कायदे से बैठ गये।

"दुर्गा!" बारहदरी की सीढ़ियों पर चढ़ते हुये पुजारीजी बोले, "यह गाड़ी किसकी है?"

"भोला आये हैं।"

हाथ जोड़ कर, सिर झुका कर भोला ने प्रणाम किया।

"आशीर्वाद! अच्छा तुम्हारी गाड़ी है, बेटा?"

"जी हां।"

"दुर्गा को ले जाने के लिए आये हो?"

"जी हाँ, मेरी मा ने कहा कि बाबाजी से मेरी तरफ से कह कर इजाजत माँग लेना।"

"हाँ-हाँ, जाय। मैंने कल रात को ही इजाजत दे दी थी। दुर्गा, तैयार नहीं हो क्या?"

"तैयारी क्या करना है, बाबा?"

"अपनी पुस्तकें और कपड़े-लत्ते सब बाँध-बूँध लो।"

"जी हाँ, अभी बाँधता हूँ।" उठकर दुर्गा उस कोठरी की ओर चला। कपड़े तहा कर, किताबें सजा कर वह पहले ही से रखे हुये था, उन सब को एक बंडल में केवल बाँधना बाकी था। दो मिनट में बंडल बँध

गया। किन्तु इतनी शीघ्रता से बंडल लेकर वह बाहर नहीं निकलना चाहता था। बंडल खोल कर, पुस्तकें और कपड़े खोल कर, वह उन्हें दूसरी तरह सजाने लगा, किन्तु इस कार्यवाही में तीन मिनट से अधिक न लग सके। बंडल फिर तैयार हो गया। बंडल सामने रखे हुये वह एक मिनट तक चुपचाप बैठा रहा। अब चलना चाहिये ? हाँ, चलना चाहिए। अब भोला ऊब रहा होगा ? हाँ, ऊब रहा होगा। तब बंडल हाथ में लेकर, उठ कर, वह कमरे से बाहर निकला।

"तैयार हो गये, दुर्गा ?"

"जी हाँ।"

"अच्छा, जाओ। प्रसाद खाकर जाते तो अच्छा होता, लेकिन पूजा में एक घण्टे से कम न लगेगा ?" भोला के चेहरे की ओर पुजारीजी प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखने लगे।

"अब इस वक्त हम लोगों को जाने दीजिए। बहुत देर हो जायगी। मा ने कहा है जल्दी आना।"

"अच्छा जाओ बेटा, लेकिन यहाँ बराबर आते रहना।"

"जरूर आऊँगा, बाबा। प्रणाम !"

"आशीर्वाद !"

"प्रणाम !"

"आशीर्वाद ! दुर्गा नित्य आया करना, बेटा !"

"जी हाँ, आऊँगा।"

तब दोनों मित्र गाड़ी में सवार हो गये। दरवाजा बन्द करके, कोचवान कोच-बक्स पर जा बैठा। लगाम खींची, चाबुक पड़ा, मुड़ कर घोड़े हवा से बातें करने लगे। वे दोनों नवयुवक मित्र घुल-घुल कर बातें करने लगे।

दो-तीन सड़कों पर मुड़ कर, दस मिनट में गाड़ी उस बंगले में घुसी और बरसाती में जाकर रुकी। एक अर्दली ने शीघ्रता से नीचे उतर कर दरवाजा खोला। दोनों मित्र गाड़ी से उतरे। दुर्गा अपना बंडल उतारने लगा।

"उसे रहने दो, यार। ननकू ले आयेगा।"

"मैं लिये चलता हूँ। यह भारी नहीं है।"

"नहीं, रहने दो भाई! ननकू, बाबू साहब का बंडल ले जाओ। आओ दुर्गा!"

तब बंडल छोड़ कर दुर्गा भोला के पीछे-पीछे चला। एक क्षण में दोनों ने भोला के कमरे में प्रवेश किया।

"बैठो दुर्गा!"

दुर्गा एक कुरसी पर बैठ गया। कोट उतार कर, एक खूँटी पर टाँग कर, भोला भी बैठ गया।

दुर्गा का बंडल हाथ में लिये हुये ननकू ने कमरे में प्रवेश किया।

"उस कुरसी पर रख दो, ननकू।"

बंडल कुरसी पर रख कर ननकू कमरे के बाहर जाने लगा।

"ननकू!"

"जी हाँ, भैया।"

"उजागिर से कह दो कि नाश्ता ले आवे।"

"बहुत अच्छा भैया।"

एक बार दुर्गा की ओर उपेक्षणीय दृष्टि से देख कर ननकू कमरे से बाहर चला गया।

अपने बंडल की ओर देख कर दुर्गा के चेहरे पर लज्जा की लालिमा

दौड़ गई। इस घर और उसमें कितना असामञ्जस्य है! अभाव तथा सम्पन्नता का कैसा विचित्र सम्मेलन है!

दुर्गा के चेहरे की ओर शंकित भाव से देख कर भोला ने कहा—"क्या बात है, दुर्गा?"

"कुछ तो नहीं।"

"इसी कमरे में तुम्हारे लिये चारपाई लगवा दूँगा। ठीक है या अन्दर साथ रहोगे?"

"यहीं ठीक है।"

"अकेले डरोगे तो नहीं?"

"नहीं, भाई, डरूँगा क्यों?"

"तो बस, ठीक है। तुम यहाँ आ गये, अब मुझे इतमीनान हो गया।"

निस्तब्ध बैठा हुआ दुर्गा फ़र्श की ओर ताकने लगा।

फलों और मिठाइयों से भरी हुई तश्तरी हाथ में लिये हुये उजागिर ने कमरे में प्रवेश किया।

"मेज पर रख दो। इतनी देर क्यों लगा दी?"

"काम में लगा था, भैया।"

"तुम हमेशा काम में लगे रहते हो। बहाना करना हो, तो कोई तुमसे सीखे।"

"गंगा-कसम, भैया, काम में फँसा था। हर बखत बैल की तरह काम करता रहता हूँ, मुदा जब देखो डाँट-फटकार सुननी पड़ती है!"

"अच्छा, बक-बक मत करो। आओ, दुर्गा।"

दोनों मित्र मेज के सामने जा बैठे। नाश्ता शुरू हुआ। उस ओर

आलमारी में रखी सुराही से उजागिर शीशे के दो गिलासों में पानी उँडेलने लगा।

"चाय पियोगे, दुर्गा ?"

"नहीं, भाई, मैं चाय नहीं पीता।"

"पी लो, यार, बड़ा मजा आयेगा।"

"अच्छा, भोला, जो पिलाओ, पिऊँगा।"

शीतल जल से भरे हुए गिलास मेज पर रख कर उजागिर कमरे के बाहर जाने लगा।

"उजागिर।"

"जी हाँ।"

"दो प्याला चाय दे जाना। देखो, ठण्डी न होने पावे।"

"अच्छा, भैया।" धीरे-धीरे बड़बड़ाता हुआ उजागिर कमरे से बाहर निकल गया।

"लो, सेब खाओ, दुर्गा।"

"रख दो, अभी खाता हूँ।"

"इतना धीरे-धीरे क्यों खा रहे हो, यार ? फिर संकोच कर रहे हो।"

"खा तो रहा हूँ, भोला ! तुम्हें तो जैसे वहम हो गया है।"

"अच्छा, भाई जिस तरह चाहो, खाओ। मुझसे तो धीरे-धीरे नहीं खाया जाता।"

दो मिनट में तश्तरी साफ़ हो गई, नाश्ता समाप्त हो गया। जल पीकर हाथ-मुँह धोकर दोनों कुरसियों पर जा बैठे।

"लो, इलायची खाओ, दुर्गा।"

"लाओ।" भोला के हाथ से दुर्गा ने दो इलायचियाँ ले लीं।

"उजागिर अभी तक चाय नहीं लाया।"

"लाता होगा। बनाने में देर भी तो लगती है।"

"देर कितनी लगती है? पानी खौलने में तीन-चार मिनट से ज्यादा नहीं लगते। आग जल ही रही होगी। बैठा ऊँघ रहा होगा।"

"नहीं, भाई, उजागिर तो बड़ा परिश्रमी आदमी मालूम होता है। नौकरों पर इतना खफ़ा न होना चाहिये, भोला!"

"नहीं, यार, मैं ख्वाहम-ख्वाह खफ़ा नहीं होता। लेकिन बाज वक्त इन लोगों की हरकत पर तबीयत झुँझला उठती है।"

"फिर भी, सब के साथ नरमी से व्यवहार करना चाहिये।"

"ठीक कहते हो, दुर्गा। लेकिन नौकर अगर डाँटे-फटकारे नहीं जाते, तो ठीक तरह काम नहीं करते।"

"यह बात कुछ ठीक तो है, लेकिन...।"

दोनों निस्तब्ध हो गये।

चाय का ट्रे हाथ में लिये हुये उजागिर ने कमरे में प्रवेश किया।

"मेज पर रक्खो, उजागिर। आओ, दुर्गा।"

दोनों फिर मेज के सामने जा बैठे। चाय का पॉट उठा कर, भोला प्यालों में चाय छानने लगा। प्याले करीब-करीब भर गये, तब उसने अन्दाज से चीनी मिलाई, दूध डाला। चाय तैयार हो गई। अपने-अपने प्याले उठा कर तश्तरियों में उँड़ेल-उँड़ेल कर दोनों मित्र चाय पीने लगे।

संतोष की साँस लेकर उजागिर चला गया।

"चाय कैसी है, दुर्गा?"

"चाय के स्वाद के बारे में तो मैं कुछ नहीं जानता, भाई। लेकिन अच्छी मालूम हो रही है। चाय तुम नित्य पीते हो क्या, भोला?"

"नहीं, नित्य तो नहीं, कभी-कभी पीता हूँ। हाँ, पापा नित्य दोनों वक्त पीते हैं।"

"नित्य पीते हैं ? लेकिन बहुत लोग तो कहते हैं कि चाय नुकसान करती है।"

"हाँ, नुकसान करती है, अगर बहुत-सी पी जाय। एक दो प्याले पी लेने से कोई नुकसान नहीं होता।"

"कोई नुकसान नहीं होता ?"

"नहीं यार ! खाली पेट चाय पीने से नुकसान होता है।"

"यार, मैं तो पसीने से तर हुआ जा रहा हूँ।"

"हा-हा हा-हा ! कोई हर्ज नहीं है, यार। गरमी में गरम चाय ठंढक पहुँचाती है !"

दुर्गा भी हँसने लगा।

"अभी देखना, दुर्गा, बदन में बड़ी तेजी मालूम होगी। एक प्याला और लो, यार !"

"बस, भाई, माफ़ करो। एक प्याला काफ़ी है।"

पसीना पोंछ कर, कुरसी से उठते हुये भोला ने कहा— "बड़ी गरमी है, हवा बिलकुल बन्द है। लेकिन बड़ी गलती हुई, पंखा खोल लेना चाहिए था।"

दीवार के समीप जाकर उसने खटका दबाया। छत में लगा हुआ पंखा चक्कर काट-काट कर हवा करने लगा। उसके नीचे बैठ कर दोनों हरे होने लगे।

सहसा कमरे में आकर पूर्णिमा ने हाथ जोड़ कर दुर्गा को नमस्कार किया।

"नमस्कार !"

"आप आ गये ?"

"हाँ !" दुर्गा ने मुस्कराते हुये उत्तर दिया ।

"दादा !"

"क्या है, पूनो ?" उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखते हुए भोला ने पूछा ।

"आप लोग आज कहीं घूमने जायँगे क्या ?"

"हाँ, जाऊँगा तो ?"

"मैं भी चलूँगी ।"

"तुम भी चलोगी ? लेकिन तुम्हारा स्कूल तो है ।"

"आपका भी तो है ।"

"मैंने तो अर्जी भेज दी है ।"

"मैं भी अर्जी भेज दूँगी ।"

"लेकिन हम लोगों के साथ चलने में तुम्हें तकलीफ़ होगी ।"

"तकलीफ़ क्या होगी ? नहीं मैं भी चलूँगी ।"

"अच्छा, चलना ।"

"कब चलिएगा ? कहीं दोनों आदमी चुपचाप गायब न हो जाइयेगा ।"

"हा-हा-हा-हा ! नहीं, पूनो, तुम भी चलना । खाना खाने के बाद चलेंगे ।"

दुर्गा मुस्कराने लगा । उसकी ओर देख कर पूर्णिमा मुस्कराती हुई कमरे के बाहर चली गई ।

११

एक बजे भोला, दुर्गा और पूर्णिमा तीनों गाड़ी पर सवार हुये।

कोच-बक्स पर बैठे हुए कोचवान ने झुक कर पूछा—"कहाँ चलूँ, भैया ?"

"सोमेश्वरघाट चलो।"

चाबुक पड़ा, घोड़े हवा से बातें करने लगे। थोड़ी दूर चल कर गाड़ी उस सड़क पर मुड़ी जो गंगा-तट की ओर जाती थी।

गाड़ी एक मील से अधिक निकल गई। कई बस्तियाँ सामने आईं, और पीछे छूट गईं। अब चारों ओर सुविस्तृत हरा-भरा मैदान दिखाई देने लगा। मैदान के उस पार कछार की धुँधली छाया दृष्टिगोचर होने लगी।

सहसा बादल घड़घड़ाने लगे। आकाश मेघाच्छादित हो गया।

भोला ने मुस्कराते हुए कहा—"लो, बदली हो गई, अब बड़ मज़ा आयेगा।"

"हाँ, हो तो गई," खिड़की से बाहर देखकर दुर्गा बोला—"और

यह बादल जल्दी खिसकने वाले भी नहीं मालूम होते। शायद वर्षा भी हो।"

"रंग तो है। देखो क्या होता है। बदली ही रहे, तो भी गनीमत है। गंगा के किनारे तो यों ही बहुत ठंढक रहती है।"

"हाँ, काफी ठंढक रहती है।"

पन्द्रह-बीस मिनट और बीत गये। अपने निर्दिष्ट पथ पर सुव्यवस्थित गति से चलती हुई जाह्नवी सामने दिखाई देने लगीं। मल्लाहों की वह छोटी-सी बस्ती समीप आ गई।

गाड़ी बस्ती में घुसी और एक पेड़ के नीचे पहुँच कर रुकी। तुरन्त कोच-बक्स से उतर कर कोचवान ने दरवाजा खोला। एक-एक करके तीनों उतर पड़े।

"मैं यहीं रुका रहूँ, भैया?" कोचवान ने पूछा।

"हाँ, यहीं रहो। हम लोग दो-तीन घंटे में लौटेंगे।"

"बहुत अच्छा, भैया। नाव पर सैर कीजिएगा क्या?"

"हाँ,।"

वे आगे बढ़े। दो मिनट में वे गंगा-तट पर थे।

उस समय तट पर मध्यान्ह का सुखद आलस्य छाया हुआ था। दस-पन्द्रह डोंगियाँ किनारे बँधी हुई थीं, किन्तु करीब-करीब खाली दिखाई देती थीं। हाँ एक डोंगी पर एक माँझी धोती ओढ़े हुये सो रहा था।

"यह लोग सब-के-सब कहाँ चले गये?"

"खाने-पीने गये होंगे। इस वक्त से पहले यह लोग भोजन नहीं करते।"

"हाँ, यही बात मालूम होती है। एक मल्लाह है तो, लेकिन सो रहा है।

"उसे ही जगा लेना चाहिये।"

"माँझी, ओ माँझी!"

भनक सुन कर, अँगड़ाई लेकर, करवट बदल कर वह फिर खर्राटे भरने लगा।

"रहने दो, यार। बड़ी गहरी नींद में है, अभी न जागेगा।"

"तो फिर आओ, किसी नाव पर बैठें। थोड़ी देर में कोई-न-कोई जरूर आ जायेगा।"

"हाँ, यही ठीक मालूम होता है।"

तब वे एक साफ़-सुथरी डोंगी में जा बैठे।

जान्हवी की छोटी-छोटी चंचल लहरें तट को छू-छू कर भाग रही थीं। अगणित भौंरे जल पर इधर-उधर दौड़ रहे थे। तट पर इधर-उधर बैठे हुए मेंढक टर्र-टर्र करते हुए वृष्टि की याचना कर रहे थे। उस ओर सुविस्तृत जल-राशि क्षितिज को छूती हुई जान पड़ती थी। विचित्र समाँ छाया हुआ था।

जल में पैर डाल कर पूर्णिमा छप-छप करने लगी।

भोला ने कहा, "कैसा सुन्दर दृश्य है!"

दुर्गा बोला, "वाह क्या कहना है!"

"मेरे जी में तो आता है कि नाव खोल दूँ।"

"क्यों? खेना जानते हो क्या?"

"थोड़ा-बहुत जानता हूँ। कई बार मैंने डाँड़ चलाया है।

"खेना अगर अच्छी तरह नहीं जानते, तो मत खोलो भाई। जानते हो, बाढ़ का जमाना है!"

"ज्यादा दूर न चलूँगा। यहीं किनारे-किनारे इधर-उधर चलाऊँगा।"

भोला उठ कर नाव खोलने के लिये चला।

"रहने दो, दादा। बगैर माँझी के चलना ठीक नहीं है।"

"नहीं, घबराओ मत, न खोलूँगा। एक डाँड़ तो है, दूसरा कहीं दिखाई नहीं देता।"

"कहाँ जाइएगा, बाबूजी ?"

भोला ने मुड़ कर देखा, हाथ में नारियल लिये धुएँ के सुरसुरे फेंकता हुआ एक अधेड़ माँझी चला आ रहा था।

"कहीं चलना होगा क्या, भैया ?" समीप आकर उस अधेड़ माँझी ने पूछा।

"हम लोग जरा घूमना चाहते हैं।"

"कहाँ तक चलियेगा ?"

"जहाँ तक चल सको, चलो।"

"अच्छी बात है, भैया ! क्या मिलेगा ?"

"क्या लोगे ?"

"अब आपसे क्या कहूँ, भैया ? जो कुछ दे दीजिएगा, ले लूँगा।"

"अच्छी बात है, चलो।"

"आइये मेरी नाव वह है।"

उस डोंगी से उतर कर वे उसके पीछे चले। वह माँझी जो सो रहा था, जम्हाई लेकर उठ बैठा और निराशा से उन लोगों की ओर देखने लगा। इन्हीं लोगों ने आवाज दी थी ? जरूर यही लोग थे। इतनी देर के बाद सवारी आई भी, तो हाथ से निकल गई। नींद जो न करा डाले, थोड़ा है। जरा सी आँख लगी और सब सत्यानाश।

अपनी डोंगी पर पहुँच कर, दूसरे माँझी ने एक स्थान से एक तख्ता उठाया, एक कम्बल निकाला, तख्ता बन्द किया, फिर कम्बल बिछा दिया। तीनों आसन जमा कर आराम से बैठ गये। तब माँझी ने डोंगी खोली, बघोड़ियाँ लगाईं, डांड़ सँभाले। डोंगी किनारे से हटने लगी।

पहले माँझी ने चिल्ला कर पूछा—"कहाँ जाओगे, घसीटे?"

दूसरे ने चिल्ला कर उत्तर दिया—"काहे पूछ रहे हो? क्या मतलब है?"

पहले ने चिल्ला कर कहा—"ऐसे ही पूछता था, भाई। तुम्हारी सवारियाँ तुम से छीन थोड़े ही लूँगा।"

दूसरे ने भोला को सम्बोधित करके कहा—"सुन लो, बाबूजी, अलसेट की बातें। अभी मैं कुछ कहूँ, तो झगड़ा हो जाय, लाठी चल जाय। मन-ही-मन कुढ़ा जा रहा है। बड़ा पाजी है यह भग्गू! मुझे देख कर न जाने क्यों जलता रहता है। अभी पिछले साल मेरे खिलाफ़ गवाही दे चुका है। बारह गाँव में इसका हुक्का-पानी बन्द है।"

"हुक्का-पानी बन्द है। क्यों?"

"जो खोटा करम करेगा, वही भुगतेगा, भैया!"

"क्या किया था उसने?"

"एक दूसरे मल्लाह की औरत निकाल लाया है, भैया। बड़ी मुकदमाबाजी हुई। कई सौ तो रुपया बिगड़ गया। सजा हो जाती बच्चा को, तब जान पड़ता। घूस देकर छूटा है। अदालत से बच गए, तो क्या हुआ? बिरादरीवालों में हुक्का-पानी बन्द है।"

मुख फेर कर भोला उठती-गिरती लहरों की क्रीड़ा देखने लगा। इधर-उधर जल के परदे से सिर निकाल कर कछुए साँस ले रहे थे। यहाँ वहाँ सूँसें कुलाचें भर रही थीं। नदी उस समय नदी नहीं, दूध-भरे

सागर के समान दिखाई देती थी। मंत्र-मुग्ध दृष्टि से भोला प्रकृति का वह अनुपम दृश्य देखने लगा। मेढकों और इधर-उधर उड़ते पक्षियों की ध्वनियाँ डाँड़ों की छप-छप से हिल-मिल कर दिशाओं में गूँज-गूँज कर विचित्र समाँ बाँध रही थीं।

उस ओर सुदूर तट की ओर ध्यान से देखते हुये पूर्णिमा ने कहा—"देखिये, वह क्या दिखाई देता है?"

"किनारा मालूम होता है।" उस ओर देखता हुआ दुर्गा बोला।

"किनारा है? मालूम तो नहीं होता। जान पड़ता है जैसे नीले बादल जल को छू रहे हों!"

"बादल ही हैं क्या, माँझी। ओ माँझी बाबा!"

डाँड़ रोक कर माँझी ने कहा—"क्या है, भैया?"

"उधर देखो, वहाँ क्या है? किनारा है क्या?"

"हाँ भैया, कगारे हैं और कगारों पर झाऊ के पौधे लगे हुए हैं।"

पूर्णिमा ने उत्सुक स्वर में कहा—"माँझी बाबा, तुम नाव वहीं ले चलो।"

"अच्छा, बिटिया, मुदा बहुत दूर है।"

"बहुत दूर है? मालूम तो ऐसा होता है कि बिलकुल नजदीक है।"

"नहीं बिटिया, दूर है। दूर से देखने से नजदीक जान पड़ता है। खैर, वहीं ले चलूँगा। मुझे क्या है, जहाँ हुकुम मिले, चल सकता हूँ।"

"चलो हम पूरा किराया देंगे।"

"बहुत अच्छा, बिटिया!"

वह फिर तेजी से डाँड़ चलाने लगा।

पूर्णिमा और दुर्गा उल्लसित नेत्रों से प्रकृति की विचारोत्पादक शोभा देखने लगे। वे बातें करना चाहते थे, खुल कर, घुल-घुल कर बातचीत करना चाहते थे, किन्तु उन दोनों के बीच अभी एक परदा गिरा हुआ था। परदा जब तक न हटे, तब तक तो आड़ से ही वार्त्तालाप हो सकता था। इसीलिए वे रह-रह कर मौन की शरण लेते थे।

कई क्षण तक छप-छप करते हुए डाँड़ों की ओर देख कर भोला ने कहा—"घसीटे बाबा!"

"हाँ, भैया," डाँड़ों की चाल धीमी कर घसीटे बोला।

"जरा डाँड़ चलाने दोगे?"

"आप डाँड़ लगाना जानते हैं क्या, भैया?"

"हाँ, थोड़ा-बहुत लगा लेता हूँ।"

"अच्छा, आओ, भैया।"

आनन्द से उछल कर भोला एक क्षण में माँझी के पास पहुँच गया। डाँड़ छोड़ कर, बैठने के स्थान पर अपना अँगौछा बिछा कर माँझी अलग हट गया। दोनों हाथों में डाँड़ों को सँभाल कर भोला अपनी पूरी शक्ति से खेने लगा। डाँड़ एक साथ, ठीक ढंग से जल में नहीं गिरते थे, जल अधिक उछलता था। डोंगी टेढ़ी-मेढ़ी, जोर से हिलती-हिलाती चलने लगी।

"बायाँ तेज करो, भैया। डोंगी टेढ़ी-मेढ़ी चल रही है। सीधी चलनी चाहिए।"

भोला ने बायाँ डाँड़ तेज किया, तो दाहिना धीमा हो गया। डोंगी दाहिनी ओर अधिक मुड़ गई।

"अच्छा, भैया ठहरो, मैं पतवार पकड़ लूँ, तब नाव सीधी चलेगी। सीधी नहीं चलती तो रोस मर जाता है।"

"नहीं बाबा, तुम पतवार सँभाल लो। धारा तेज है, बिना पतवार के सहारे डोंगी ठीक तरह न चलेगी।"

अपने स्थान से उठ कर नाव के दूसरे सिरे पर जा कर घसीटे ने पतवार पकड़ ली। नाव अब लहरों को काटती हुई सीधी चलने लगी। भोला झूम-झूम कर डाँड़ चलाने लगा।

"दादा!"

"क्या है, पूनो?" डाँड़ों की गति मन्द कर भोला ने पूछा।

"मैं भी डाँड़ चलाऊँगी।"

"तुम भी चलाओगी? नहीं, तुमसे नहीं बनेगा।"

"नहीं दादा, जरा-सी चला लेने दो।"

"तू हर बात में ज़िद करने लगती है, पूनो। अभी जरा-सी गड़बड़ हो जाय, तो लेने के देने पड़ जायँ। बरसाती नदी का क्या ठिकाना है?"

भोला के मुखमंडल पर आत्मगौरव का ऐसा भाव व्यक्त हो गया, मानो उसके कुशल नाविक होने में अब कोई कसर न थी।

निरुत्तर होकर, मुँह बना कर पूर्णिमा निराशा की दृष्टि से लड़ती-भिड़ती लहरों की ओर देखने लगी।

"अच्छा, पूनो, आओ।"

पूर्णिमा निश्चल मौन बैठी रही।

"चलो पूनो, तुम्हारी यही आदत मुझे अच्छी नहीं लगती। फ़ौरन मुँह बना लेती हो।"

यह आक्षेप सुन कर, विवश होकर पूर्णिमा उठी और भाई की बगल में बैठ गई। भोला ने एक डाँड़ उसके हाथ में दे दिया। दोनों हाथों

की शक्ति लगा कर पूर्णिमा डाँड़ चलाने लगी। किन्तु डाँड़ कभी पट गिरता, कभी बिलकुल तिरछा, कभी एकदम सीधा। भोला के डाँड़ से वह मेल न खाता था।

"इधर देखो पूनो, इस तरह चलाओ। डाँड़ पानी में ज्यादा न घुसना चाहिए।"

हाथ रोक कर पूर्णिमा फिर डाँड़ चलाने लगी। किन्तु वह स्वेच्छाचारी डाँड़ कभी जल में बहुत ज्यादा घुस जाता, कभी बिलकुल ऊपर रह जाता। पूर्णिमा जितनी अधिक सावधानी करती, डाँड़ उतनी ही गड़बड़ी मचाता। वह पसीने से तर हो गई, थक गई, जोर-जोर से साँस लेने लगी। भरे हुए हाथ अब उठने से इनकार करने लगे। तब डाँड़ रोक कर उसने कहा—"अपना डाँड़ संभालो दादा, अब मैं नहीं चलाऊँगी।"

"थक गई, पूनो?"

"बनता भी नहीं थक भी गई हूँ।"

पूर्णिमा उठ कर दुर्गा के समीप जा बैठी। भोला फिर दुगने उत्साह से दोनों डाँड़ चलाने लगा।

"तुम भी डाँड़ चलाओगे दुर्गा?"

"नहीं, भाई, मुझे चलाना नहीं आता," दुर्गा ने विवशता से मुस्कराते हुए कहा।

"आओ, यार, बहुत जल्द सीख जाओगे।"

तब दुर्गा सकुचाता हुआ उठा और समीप जा कर भोला की बगल में बैठ गया। भोला ने एक डाँड़ उसे दे दिया। दोनों हाथों से अपना डाँड़ पकड़ कर, क्षण भर भोला के डाँड़ की गति को ध्यान से देख कर वह चलाने लगा। किन्तु उसके साथ भी उस डाँड़ ने वैसा ही व्यवहार किया जैसा पूर्णिमा के साथ।

"मेरे डाँड़ से मिला कर चलाओ, तो नाव ठीक तरह चले। दोनों डाँड़ जब ठीक तरह एक साथ चलते हैं, तो नाव सीधी चलती है, ज्यादा हिलती नहीं।"

दुर्गा उसके डाँड़ से मिला कर अपना डाँड़ चलाने की कोशिश करने लगा किन्तु दो-चार हाथ से अधिक सफल न हो सका। डाँड़ भद्दे ढंग से जल में गिरते थे, इसलिए शक्ति अधिक खर्च होने लगी। दुर्गा पसीने से भीग गया।

"आप भी नहीं चला पा रहे हैं?" पूर्णिमा ने मुस्कराते हुए कहा।

मुस्करा कर दुर्गा ने अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली।

"लो भोला, अपना डाँड़। मुझसे चलाते नहीं बनता।"

"तुम भी हिम्मत हार गये? कुछ दूर और चलो।"

किंचित् लज्जित होकर दुर्गा फिर प्रयत्न करने लगा, किन्तु सफलता न मिली। तब वह डाँड़ छोड़ कर उठ खड़ा हुआ।

भोला फिर डाँड़ चलाने लगा। इस समय उसके आत्मगौरव की सीमा न थी।

"जोर से चलाओ, भैया। अब दोम आ रहा है!"

"दोम क्या है, बाबा?"

"पीछे देखिये, कैसे जोरों से उठ रहा है। दोम में बड़ा खतरा रहता है, भैया।"

भोला ने पीछे मुड़ कर देखा, थोड़ी दूर पर सैकड़ों छोटी-बड़ी लहरें हा-हा करती हुई इधर से उधर दौड़ रही थीं। उनके पीछे सपाट जल चक्कर काटता दिखाई देता था। उन विकट लहरों को देख कर भोला भय से काँप उठा। उसके हाथ थक गये थे, सारी शक्ति खर्च हो चुकी थी, किन्तु उसके आत्माभिमान ने हार मानने की आज्ञा न दी।

"भैया, मैं आ जाऊँ ?" घसीटे ने चिल्ला कर कहा—"दोम में शायद आपसे खेते न बने।"

"नहीं, तुम पतवार सँभाले रहो, मैं नाव ले चलूँगा।"

"रहने दो, भैया। थक गये होंगे ?"

"नहीं, अभी थका नहीं हूँ।"

दाँतों को दबा कर वह अपनी बची-बचाई पूरी शक्ति से डाँड़ चलाने लगा, किन्तु थकावट प्रतिक्षण अधिक होने लगी, हाथों में पीड़ा होने लगी।

नाव दोम में पड़ कर डगमग-डगमग चलने लगी। पूर्णिमा और दुर्गा को ठीक तरह से बैठे रहना भी कठिन मालूम होने लगा। भोला और उछल-उछल कर डाँड़ चलाने लगा।

"और जोर से भैया, और जोर से।"

भोला ने डाँड़ों को तेज करने की कोशिश की, किन्तु हाथ मन-मन भर के हुए जाते थे। सहसा उसे चक्कर-सा आ गया। आँखों के सामने लाल-पीले धब्बे उड़ने लगे। उसके हाथ से एक डाँड़ छूट कर गिर पड़ा। नाव कुछ टेढ़ी होकर बह चली। चीख मार कर, पूर्णिमा काठ के तकिये से लिपट गई। लुढ़क कर, तख्ते को जोर से पकड़ कर, भय से आँखें फाड़ कर दुर्गा हा-हा करती हुई लहरों की ओर देखने लगा। पतवार छोड़ कर, माँझी तुरन्त लपका और भोला के हाथों से डाँड़ लेकर जोरों से चलाने लगा। लड़खड़ा कर भोला एक ओर लद से बैठ गया। नाव सीधी हो गई।

"सब लोग सँभल कर बैठो, भैया। बाल-बाल बच गये। नाव कितनी दूर बह आई। भगवान् की बड़ी कृपा हुई।"

दोम की विकल लहरों को वह डगमग-डगमग चलती हुई नौका धीरे-धीरे काटने लगी।

"बस, अब थोड़ा-सा और रह गया है, भैया। एक मिनट में दोम से नाव छूट जायगी।"

आकाश में बादल सहसा जोरों से घड़घड़ाये, दो-चार बूँदें गिरीं, फिर झड़ी लग गई। ऊपर-नीचे, इधर-उधर चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर होने लगा। जल के प्रगाढ़ परदे में रह-रह कर बिजली इस तरह चमक उठती थी, मानो धूम्राच्छादित रणक्षेत्र में गोलों के अग्नि-बाण चल रहे हों। विद्युत का विकट हास मेघमालाओं के विकट गर्जन में मिल कर वृष्टि के भयंकर शब्द को अधिक भयंकर बना रहा था।

वृष्टि का विकट आघात सहते, किन्तु धैर्य से डाँड़ों को चलाते हुये माँझी ने चिल्ला कर कहा—"दोम से बाहर निकल आये, भैया। अब कोई डर नहीं है।"

माँझी के शब्दों की मन्द प्रतिध्वनि विस्मित भोला के कानों में पड़ी, और वह अधिक मन्द होकर शंकित दृष्टि से ताकते हुये दुर्गा के और भय से आँखें बन्द किये हुये पूर्णिमा के कानों में भी पड़ी। हाँ, उन तीनों को वे प्रतिध्वनियाँ इस तरह सुनाई दीं, मानो ढोलों के निरर्थक नाद को चीर कर वीणा का क्षीण, ललित स्वर सुनाई दे जाय। भोला मुस्कराने लगा, दुर्गा की शंका धैर्य में परिणत हो गई, पूर्णिमा ने आँखें खोल दीं।

"तुम तो बिलकुल भीग गईं?" पूर्णिमा की ओर चिन्तित दृष्टि से देखते हुये दुर्गा ने कहा।

"आप भी तो भीग गये?" पूर्णिमा ने मुस्कराते हुये कहा।

"उधर बौछार ज्यादा आ रही है। तुम इधर आ जाओ मैं उधर बैठ जाऊँगा ?"

"नहीं, बैठे रहिये। बौछारें उधर भी पहुँच रही हैं।"

"नहीं, इधर बहुत कम आ रही हैं।"

"आप इधर आ जायेंगे, तो ज्यादा नहीं भीगेंगे क्या ?"

"आ जाओ, पूर्णिमा। कहना मानो।"

पूर्णिमा का चेहरा खिल उठा। वह धीरे-धीरे खिसक कर दुर्गा के स्थान पर जा बैठी। दुर्गा उसके स्थान पर बैठ गया। दुर्गा के स्थान पर बैठने पर भी पूर्णिमा के सुकोमल शरीर में हवा के झोंकों में उड़-उड़ कर आती हुई बौछारें लग रही थीं, किन्तु उनके आघात में यहाँ वह उग्रता न थी, जो वहाँ थी। उसका हृदय कृतज्ञता से भर गया। उस कृतज्ञता के वक्ष से निकल कर एक विचित्र रहस्यमय भाव उसके हृदय में गुदगुदी पैदा करने लगा। वही भाव हृदय से निकल कर उसके शरीर के रग-रग में प्रवाहित होने लगा। उसी से भरी हुई आँखों से दुर्गा के चेहरे की ओर देखती हुई पूर्णिमा बोली—"अब आप ज्यादा भीग रहे हैं। इधर खिसक आइये, तो बौछारें ज्यादा न लगें।"

"ठीक बैठा हूँ। खिसकूँगा तो नाव टेढ़ी हो जायगी।"

"थोड़ा-सा खिसक आने से टेढ़ी न होगी।"

पूर्णिमा की आँखों की ओर देख कर, विस्मित होकर, फिर विवश होकर वह तनिक उसकी ओर खिसक गया।

"अब ठीक है ?"

"हाँ।" पूर्णिमा की चिन्ता शान्त हो गई।

दस मिनट बीत गये। तीव्र वायु मन्द होने लगी। तब वृष्टि का वेग क्रमशः धीमा होने लगा। बादल का निरन्तर गर्जन रह-रह कर सुनाई

देने लगा। विद्युत की विकट कड़कड़ाहट बन्द हो गई, रह-रह कर श्याम-वर्ण मेघ-सेना में प्रकाश के बाण छोड़ कर ही वह सन्तोष करने लगी। देखते-देखते वृष्टि केवल फुहार के रूप में परिणत हो गई। प्रसन्न होकर भोला ने कहा—"किनारे आ गये, माँझी बाबा!।"

"हाँ, भैया, आ गये। अब चार हाथ में पहुँच जाते हैं। बहुत बचे, भैया! ऐसा तूफान बहुत दिनों में देखा है। आठ बरस हुये, एक बार जब सुखरामपुर जा रहा था, तो ऐसे ही तूफान में फँसा था। उस दफा मैं अकेला नहीं था, कई संगी भी साथ थे। कैसा विकट बवंडर आया था! फिर पानी जब गिरने लगा, तो दो घंटे तक नहीं रुका। हम सब के हाथ-पैर फूल गये थे। ऐसा जान पड़ता था कि अब गये—अब गये। हम पाँच आदमी थे। पाँचों खेते-खेते लस्त-पस्त हो गये थे। मुदा, जब तक काल नहीं आता, कुछ नहीं बिगड़ सकता। उस दफा पूरे तीन घंटे की मसक्कत के बाद किनारे लगे थे। भैया, आज उस दिन से ज्यादा खतरा था। हम दोम में फँसे थे न?"

"हाँ, बाबा, दोम बड़ा भयंकर मालूम होता था। उस समय तुम न आ जाते, तो हम सब गये थे।"

"भैया, दोम में बहुत सँभाल-सँभाल कर चलना पड़ता है। जरा भी चूके तो नाव गई। बड़ी-बड़ी नावें दोम में पड़ कर, मुश्किल से निकलती हैं, हमारी तो मामूली डोंगी है। माँझी हमेशा दोम से बच कर चलते हैं, हारे पर कोई उसके भीतर से जाता है। बड़ी गलती हुई, भैया, इधर से न आना चाहिये था। हट कर आते तो अच्छा होता। थोड़ी-सी देर ही हो जाती न, और क्या होता? खैर, जो कुछ हुआ अच्छा हुआ।"

"मैं अच्छी तरह नाव चलाना कितने दिन में सीख जाऊँगा, बाबा?"

"आप बहुत जल्दी सीख जाओगे, भैया। हाथ ठीक तरह घूमने लगे हैं। बस, थोड़ी-सी कसर है। महीना-पन्द्रह दिन में अकेले नाव चला लोगे।...लो भैया, कगारे आ गये।" डाँड़ों को खींच कर रस्सी हाथ में पकड़ कर माँझी कगारे पर कूद पड़ा। फिर एक लग्गी लेकर उसे अच्छी तरह गाड़ कर उसने नाव बाँध दी।

१२

तब एक-एक करके तीनों तट पर उतर पड़े। चारों ओर गुलाबी रंग के नन्हें-नन्हें फूलों से लदी हुई झाऊ की झाड़ियाँ लहलहा रही थीं। उनके नीचे बहते हुए जल के छोटे-छोटे सोते गुनगुनाते हुये आगे बढ़ कर जाह्नवी में मिल रहे थे। वे तीनों उन सोतों में छप-छप करते हुये इधर-उधर चलने लगे, वृष्टि अब बिलकुल बन्द हो गई थी। काले बादल खिसकने, लगे गुलाबी, रुपहले, सुनहले, आसन जमाने लगे।

"ऐसा विचित्र दृश्य मैंने पहले कहीं नहीं देखा!" दुर्गा ने मुस्कराते हुये कहा।

"वाह!"

"ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई सुन्दर चित्र देख रहे हों। किन्तु कोई चित्रकार ऐसा सुन्दर चित्र बना सकता है, इसमें सन्देह है!" पूर्णिमा की आँखें उल्लास से भरी हुई फड़फड़ा रही थीं, मुखमण्डल पर दिव्य मुस्कान व्यक्त थी।

दुर्गा ने समर्थन करते हुये कहा—"अगर सैकड़ों चित्र खींचे जायँ तो भी शायद यह विराट दृश्य न दिखाया जा सके।"

"ठीक कहते हो, दुर्गा। यह सब सैकड़ों चित्रों में भी दिखा देना कठिन है।"

विस्मित स्वर में पूर्णिमा ने कहा—"वह कैसा अद्भुत चित्रकार होगा जिसने यह अद्भुत चित्र बनाया है!"

दुर्गा ने हर्ष-विह्वल स्वर में कहा—"संसार का कोई चित्रकार उस अदृश्य चित्रकार का मुकाबला नहीं कर सकता। संसार का चित्रकार यह चित्र खींच भी ले, तो उसमें यह जीवन, यह संगीत तो नहीं भर सकता।"

"सत्य है, दुर्गा, सत्य है!" प्रशंसात्मक भाव से सिर हिलाते हुये भोला ने कहा। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो उसके मस्तिष्क में उमड़ते हुये भाव को दुर्गा ने अपने मुख से प्रकट कर दिया हो।

भोला ने मुड़ कर कहा—"हम लोग भीग तो चुके ही हैं, अब नहा लेना चाहिये। कपड़ा फैला दिये जायँ, तब तक सूख जायँगे।"

"हाँ, मेरी भी यही राय है," दुर्गा ने सम्मति दी—"तुरन्त नहा लेना चाहिये।"

"अच्छा, तो चलो, नहा लें।"

तब वे घूम कर डोंगी की ओर चले। घसीटे आग जलाने में लगा हुआ था। उन लोगों की ओर देख कर, उसने कहा—"अब चलिएगा क्या, भैया? घूम-फिर चुके?"

"हाँ, बाबा, घूम चुके। अब हम लोग स्नान करेंगे।"

"अच्छी बात है, भैया, खुशी से नहाओ। बहुत साफ जल है।"

"यहाँ ज्यादा गहरा तो नहीं है, माँझी बाबा?"

"नहीं, नहीं, बिटिया, ज्यादा गहरा नहीं है। कमर भर जल है?"

"तो ठीक है।"

कपड़े निचोड़ कर डोंगी की छत पर फैला दिये गये। फिर वे जल में घुसे। साड़ी सँभाल कर पूर्णिमा डुबकियाँ लगाने लगी। दुर्गा बदन मलने लगा। भोला इधर-उधर हाथ-पैर फटकार-फटकार कर तैरने लगा।

"ज्यादा दूर न जाओ, दादा,।" पूर्णिमा ने पुकार कर कहा।

"जाने दो बिटिया, कोई डर नहीं है। मैं भी तो मौजूद ही हूँ।"

कुछ दूर और जाकर, मुड़ कर, दूसरी ओर जाकर, फिर मुड़ कर, भोला तट की ओर चला। तट पर खड़े होकर, बदन मलते हुये उसने पूछा—"तुम तैरना नहीं जानते क्या, दुर्गा?"

"नहीं, भाई, तैरना नहीं जानता।"

"तो सीख लो, यार, बहुत सरल है। मैं तुम्हें सिखा सकता हूँ।"

"नहीं, रहने दो भोला, फिर कभी सीखूँगा।"

"सीख लो, भैया," नारियल होठों से हटा कर घसीटे ने कहा—"बहुत सरल है। सीख लोगे, तो बखत पड़ने पर काम देगा। मैं सिखा दूँ भैया?"

"हाँ, दुर्गा, माँझी बाबा से ही सीख लो। मैं तो तैरना बहुत कम जानता हूँ, लेकिन इनका तो जल ही घर है।"

"बड़ी जल्दी आ जायेगा, भैया। जहाँ हाथ-पैर ठीक तरह चलने लगे कि तुरन्त आ जायगा।"

"अच्छी बात है, बाबा, सिखाओ।"

नारियल एक ओर रख कर, माँझी जल में उतर पड़ा। दुर्गा के समीप जाकर उसने अपने दोनों हाथ फैला दिये।

"मेरे हाथों पर पेट के बल लेट जाओ—इस तरह। हाँ, ठीक है अब हाथ-पैर चलाओ, भैया।"

दुर्गा घबराता हुआ हाथ-पैर फटकारने लगा। उसे हाथों पर लिए हुए घसीटे आगे बढ़ने लगा।

"घबराओ न, भैया, ठीक तरह हाथ चलाओ। जल में हाथ ज्यादा डूबने न पावें। हाँ भैया, ठीक है, चलाओ-चलाओ।"

अपनी सारी शक्ति लगा कर दुर्गा ठीक तरह हाथ-पैर चलाने की कोशिश करने लगा। इस बार वे ठीक चले।

"हाँ, भैया, चलो। सिर बराबर जल के ऊपर रहे। चलो, और जोर से चलो, जल यहाँ गहरा है।" सहसा उसने अपने हाथ हटा लिये।

दुर्गा घबरा गया, किन्तु हाथ-पैर चलाता रहा। दो-चार गज जाकर वह थक गया, फिर डुबकी खाई। माँझी ने उसे तुरन्त पकड़ कर ऊपर उठा लिया।"

"ही-ही-ही-ही, भैया। इस बार ठीक चले थे। आओ, फिर चलो।"

"बस बाबा, अब रहने दो।"

"एक-दो दफा और चल लो, तो आगे बड़ी आसानी होगी। आओ।"

"अच्छा।" दुर्गा फिर बिना सहारे के तैरने लगा।

सँभल-सँभल कर, वह आराम से हाथ-पैर चलाने लगा। इस बार वह पन्द्रह-बीस गज बढ़ गया। गहरा जल आ गया। सहसा उसे घबराहट मालूम हुई। डुबकी खाकर, वह बहने लगा। माँझी इस बार उसके समीप न था। वह तुरन्त डुबकियाँ खाते हुये दुर्गा की ओर लपका। दुर्गा का सिर जल के ऊपर दिखाईदिया, किन्तु दूसरे हा तण वह फिर

डुबकी खा गया। भोला भी तेजी से तैरता हुआ उस ओर चला। भय से आँखें फाड़ कर पूर्णिमा देखने लगी, उसका हृदय पत्ते की तरह काँपने लगा।

क्षण पर क्षण बीतने लगे। सहसा दुर्गा का एक हाथ जल से ऊपर निकला। तेजी से बढ़ कर, माँझी ने डुबकी लगाई। फिर क्षण पर क्षण विकट वेग से बीतने लगे।

दुविधा का अन्त हो गया। दुर्गा के मूर्च्छित शरीर को पकड़े हुए, माँझी जल के ऊपर दिखाई दिया। पूर्णिमा ने सन्तोष की साँस ली।

दो मिनट में घसीटे और भोला दुर्गा को लेकर तट पर आ पहुँचे। माँझी हाँफता हुआ दुर्गा के शरीर की परीक्षा करने लगा।

"भैया अभी होश में आ जायँगे, जल ज्यादा नहीं पिया। घबराने की बात नहीं है।"

"नाड़ी ठीक तरह चल रही है न, बाबा?" पूर्णिमा ने चिन्तित स्वर में पूछा।

"हाँ, बिटिया, बिलकुल ठीक चल रही है। घबराहट के मारे बेहोशी आ गई है, अभी अच्छे हो जायँगे। इनकी धोती कहाँ है?"

"अभी लाती हूँ, बाबा।"

सिर हिला कर, भोला अचेत पड़े हुए दुर्गा के चेहरे की ओर देखने लगा। ऐसा जान पड़ता था, मानो वह गहरी नींद में हो और कोई सुखद स्वप्न देख रहा हो। पीड़ा का कोई चिह्न व्यक्त न था, शान्ति आसीन थी। किन्तु उसकी उस उदासीन शान्ति के वक्ष से उसका वह विकट अकेलापन हठात् निकल कर, भोला के मस्तिष्क में घुस कर, बढ़ कर, विराट रूप धारण करने लगा। उसके हृदय में करुणा उमड़ने लगी, गला भर आया, आँखों में आँसू छलक आये।

"धोती लो, बाबा।"

"लाओ, बिटिया।" पूर्णिमा से धोती लेकर उसे अपने कंधे पर रख कर, माँझी दुर्गा के शरीर से गीली धोती अलग करने लगा।

पूर्णिमा वहाँ से दूर हट कर जल की ओर देखने लगी। भोला उठ कर, अपनी वह पावन दुर्बलता छिपाने के लिये उस ओर चला गया।

सूखी धोती पहिना कर, दुर्गा को अपने हाथों पर उठा कर, माँझी डोंगी की ओर चला।

"सूखी धोती पहिना दी, बाबा?"

"हाँ, बिटिया।"

डोंगी पर शीघ्रता से चढ़ कर, पूर्णिमा तख्तों पर पड़ा हुआ गीला कम्बल हटाने लगी।

"हाँ, बिटिया, इसे हटा दो," घसीटे ने नाव पर चढ़ते हुए कहा, "मेरा अँगौछा बिछा दो।"

"यह सूखी तौलिया है, बाबा, इसे बिछाये देती हूँ।"

"फिर ठीक है।"

उसने दुर्गा को तौलिये पर लिटा दिया।

"इन्हें थोड़ा-सा जल पिलाओ, बाबा, तो शायद जल्द होश आ जाय?"

"नहीं, भैया, जल पिलाने की कोई जरूरत नहीं है, अभी होश आया जाता है। आप तो अपनी धोती बदल डालो, अभी तक गीली पहिने हो?"

"हाँ, बाबा बदलता हूँ।"

"बिटिया, तुम भी बदल डालो।"

"अभी बदल लूँगी, बाबा। तुम भी तो गीली धोती पहिने बैठे हो।"

"मेरी बात दूसरी है, बिटिया, मुझे तो हर वखत जल से काम पड़ता है। मैं घड़ी दो घड़ी गीला कपड़ा पहिने बैठा रहूँ, तो मुझे कुछ न होगा, मुदा आप लोगों की बात दूसरी है।"

"ठीक कहते हो, बाबा।" पूर्णिमा उठ कर, उधर जाकर, साड़ी बदलने लगी।

घसीटे मन-ही-मन मन्त्र पढ़-पढ़ कर दुर्गा के चेहरे पर फूँक मारने लगा।

धोती पहिन कर, समीप जाकर, भोला विनोदपूर्ण नेत्रों से उस अशिक्षित, असभ्य माँझी की वह विचित्र क्रिया देखने लगा। किन्तु जहाँ उसके अस्तित्व का एक भाग उस विचित्र कार्यवाही पर हँस रहा था, वहीं दूसरा भाग विस्मय और आतंक से आन्दोलित था। एक कहता था, वह अपढ़ है, मूर्ख है, अन्धविश्वासी है, दूसरा आवाज लगाता था, वह ज्ञानी है, बुद्धिमान है, उसका विश्वास विवेक की पराकाष्ठा है।

माँझी अब बुदबुदाता हुआ दुर्गा के मत्थे पर हाथ फेरने लगा। सूखी धोती पहिन कर, मुड़ कर पूर्णिमा भी विस्मित दृष्टि से माँझी की विचित्र कार्यवाही देख रही थी।

क्रिया समाप्त हो गई। माँझी दुर्गा के हाथ-पैर सहलाने लगा। भोला उसकी सहायता करने लगा। पूर्णिमा भी बढ़ी, किन्तु माँझी ने तुरन्त मना किया—"तुम रहने दो बिटिया, हम दो जने काफी हैं।"

भोला ने कहा—"तुम झाड़-फूँक भी करते हो क्या, माँझी बाबा?"

"हाँ, भैया, थोड़ा-बहुत कर लेता हूँ। घर के देवताओं की बदौलत कुछ जानता हूँ। अपने गाँव का सयाना हूँ, भैया!"

"यह सब तो ठीक है, बाबा लेकिन इनके सिर तो शायद कोई नहीं आया है। फिर इन्हें झाड़ने से क्या फायदा हुआ?"

"यह आपकी भूल है, भैया। झाड़-फूँक से सीत, बतास और दूसरे रोग-बलाय भी दूर हो जाते हैं। फिर जल के भीतर का सब हाल भी तो कोई नहीं जानता। कौन जाने, शायद कोई तंग करने के लिये आ ही गया हो। मुदा, भैया, अगर कोई है, तो अब ज्यादा देर नहीं ठहर सकता।"

भोला चक्कर में पड़ा हुआ, दुर्गा के मुख को देखने लगा। सहसा उसे ऐसा जान पड़ा, मानो दुर्गा की पलकें फड़फड़ाई हों। वह ध्यान से देखने लगा। दो क्षण के बाद पलकें फिर फड़फड़ाती हुई दिखाई दीं।

"इनकी पलकें तो फड़फड़ाने लगीं, बाबा," उसने प्रसन्नता से खिल कर कहा।

"हाँ, भैया, अब ये होश में आये जाते हैं।"

पूर्णिमा उत्फुल्ल दृष्टि से दुर्गा की आँखों की ओर देखने लगी। क्षण पर क्षण बीतने लगे। दुर्गा की पलकें फिर फड़फड़ाई, फिर सहसा उसने आँखें खोल दीं। तब वे सब मुस्कराने लगे।

दुर्गा की आँखों में पहले विस्मय दिखाई दिया, फिर वह भाव अदृश्य होने लगा, स्मृति लौटने लगी। आँखें बन्द हो गईं।

पूर्णिमा ने चिन्तित स्वर में कहा—"आखें फिर क्यों बन्द हो गईं, बाबा?"

"कोई हर्ज नहीं है, चिटिया, अब यह होश में आ गये। भैया! भैया!"

आँखें खुल गईं, होठों पर मुस्कराहट व्यक्त हो गई।

"कैसा जी है, दुर्गा ?" भोला ने मुस्कराते हुये पूछा।

"अच्छा...है !" दुर्गा ने क्षीण स्वर में उत्तर दिया।

"तकलीफ़ ज्यादा तो नहीं है ?" पूर्णिमा बोली।

"न...हीं !" ऐसा जान पड़ा मानो वह विकट पीड़ा से लड़ रहा हो—"...मैं...अच्छा हूँ, कोई तकलीफ़...नहीं...है।" दुर्गा धीरे-धीरे उठने की कोशिश करने लगा।

"लेटे रहिये—लेटे रहिये। आप उठ क्यों रहे हैं ?"

"हाँ, दुर्गा, लेटे रहो। उठने की क्या जरूरत है ?"

"नहीं...भाई...बैठूँगा, तबीयत...चाहती है।"

तब भोला ने सहारा देकर, उसे बैठा दिया। दुर्गा को चक्कर-सा आ गया, उसने आँखें बन्द कर लीं। दो-तीन क्षण के बाद उसकी तबीयत सँभल गई, तब उसने फिर आँखें खोलीं।

"यह कैसे हुआ, दुर्गा ? एकाएक तुम बहने कैसे लगे ?"

"बात यह हुई कि एकाएक मेरी धोती ढीली हो गई। बस, मेरा दाहिना पाँव फँस गया। मैं धोती से पैर निकालने की कोशिश करने लगा, फिर न जाने कैसे बहने लगा।"

"यह बात हुई, भैया ! तभी तो सोच रहा था कि भैया हाथ-पैर तो ठीक तरह से चलाने लगे थे, यह हो कैसे गया। जरूर यही बात है। आप तो अभी सीख ही रहे हैं, मुदा अच्छे तैराक का पैर भी इस तरह फँस जाय, तो वह भी घबरा जाय। तैरने से पहले धोती अच्छी तरह कस कर बाँध लेनी चाहिये।"

"हाँ, बाबा, ठीक कहते हो। यही तो गलती हो गई। अभी तक गीली धोती पहिने हो, बाबा ?"

"कोई हर्ज नहीं है, भैया ! अभी बदले लेता हूँ।"

"जाओ बाबा, धोती बदलो।"

"अच्छा, भैया।" माँझी तब उठ कर डाँड़ों की ओर चला। एक तख्ता हटा कर, उसने एक सूखा अँगोछा निकाला। अँगोछा पहिन कर, धोती पछाड़ कर, निचोड़ कर, उसने क्राँसे को छत पर फैला दी। फिर वह बैठ कर चिलम भरने लगा।

भोला ने कहा—"आज बड़ी खैरियत हुई, घसीटे बाबा ने बड़ी तेजी दिखलाई। तुम्हें डूबते देख कर वह तीर को तरह लपके थे। बड़े होशियार माँझी हैं।"

"हाँ, बड़े होशियार माँझी हैं। मा से इनकी खूब तारीफ करूँगी।"

"नहीं पूनो, मा से कुछ न कहना, किसी से कुछ न कहना, नहीं तो बड़ी डाँट-फटकार सुननी पड़ेगी।"

"हाँ, ठीक कहते हो, दादा। किसीसे कुछ न कहूँगी।"

दुर्गा के चेहरे पर लज्जा की लालिमा व्यक्त थी। लज्जा थी उस दुर्बलता पर—नहीं, उस दुर्घटना पर, जिसने अनायास उन सबका ध्यान उसके ऊपर केंद्रित कर दिया था।

धुएँ के कई सुरसुरे फेंक कर, नारियल होटों से हटा कर घसीटे ने पूछा—"अब चलूँ क्या, भैया?"

"हाँ, बाबा, अब चलो।"

"अच्छा, भैया, अभी खोलता हूँ।"

दो मिनट तक नारियल और गुड़गुड़ा कर उसने चिलम उलट दी। नारियल एक ओर खड़ा कर दिया, फिर वह तट पर गड़ी हुई लग्गी उखाड़ने लगा। लग्गी उखाड़ कर, धोकर, जल पर रख कर, वह नाव ढकेलने लगा। धीरे-धीरे खिसक कर नाव गहरे जल में पहुँच गई। तब

माँझी उचक कर नाव में बैठ गया। डाँड़ सँभाले और झम-झम कर खेने लगा। मस्ती में झूमती हुई, लहरों को काटती हुई, नाव तेजी से आगे बढ़ने लगी।

"माँझी बाबा ने बड़ी झाड़-फूँक की, दुर्गा, तब तुम अच्छे हुये हो!" भोला ने मुस्कराते हुये कहा।

"अच्छा, झाड़-फूँक भी हुई थी? भाई, मुझे तो झाड़-फूँक पर बिलकुल विश्वाश नहीं है!"

"विश्वास तो मुझे भी नहीं है, यार। लेकिन झाड़ने के बाद ही तुमने आँखें खोल दी थीं!"

"हाँ, दादा, झाड़ने के बाद ही तुरन्त यह होश में आ गये थे।"

दुर्गा चुपचाप बैठा रहा। उसने कुछ न कहा, क्योंकि उस दुर्घटना के विषय में वार्तालाप करना उसे अरुचिकर ज्ञात होने लगा।

"वह देखो, दादा, इन्द्र-धनुष निकल आया?"

"कहाँ है?"

"उधर देखो।" पूर्णिमा ने अँगुली से संकेत किया।

भोला और दुर्गा दोनों उस ओर ध्यान से देखने लगे।

"हाँ, वह है। कैसा सुन्दर!"

"ऐसा जान पड़ता है, मानो जल को छू रहा हो।" दुर्गा ने मुस्काराते हुये कहा।

"हाँ, यार। और जल में इन्द्र-धनुष की जो छाया दिखाई दे रही है, कैसी सुन्दर है!"

एकाएक बादलों के पर्दे से निकल कर सूर्य-देव प्रकाश-वर्षा करने लगे। ऐसा जान पड़ा, मानो प्रकृति सहसा खिलखिला कर हँसने लगी हो।

"ठाकुरजी निकल आये, भैया," डाँड़ों की चाल धीमी करके, माँझी ने कहा—"अब आप लोगों के कपड़े बहुत जल्द सूख जायँगे।"

"हाँ, करीब-करीब सूख गये हैं," अपनी कमीज छूकर भोला ने कहा—"थोड़ी देर में बिलकुल सूख जायँगे। दाम किधर है, बाबा?"

"वह है, भैया," बाईं ओर संकेत कर घसीटे बोला—"अब की दफ़ा उससे बच कर चल रहा हूँ।"

संतोष की साँस लेकर पूर्णिमा ने कहा—"यह तुमने बहुत अच्छा किया, बाबा। खामखाह आफत में जाने से क्या फायदा?"

"हाँ, बिटिया।"

सिर हिला कर, घसीटे तेजी से डाँड़ चलाने लगा। किलकारियाँ मारती हुई, लहरों को इधर-उधर ढकेलती हुई नौका तेजी से चलने लगी। मुस्कराती हुई दृष्टि से आकाश की ओर देख कर पूर्णिमा ने कहा—"अब बादलों को देखिये, जान पड़ता है, मानो पहाड़ हों!"

"हाँ, बिलकुल पहाड़ों की तरह मालूम होते हैं।"

दुर्गा ने कहा—"उधर देखो, मालूम होता है, जैसे दो-तीन पेड़ खड़े हों और लम्बा-चौड़ा मैदान हो!"

"आप ठीक कहते हैं। सचमुच मैदान ही मालूम होता है।"

बड़ी देर तक वे तीनों उन छाया-चित्रों की ओर देखते रहे। प्रकाश मंद होने लगा। अस्ताचल की ओर बढ़ कर सूर्य-देव बादलों के पर्दे में छिप गये।

तट आ गया। नौका किनारे लगी। वे कपड़े पहिनने लगे।

नौका किनारे बँध गई। एक-एक करके तीनों उतर पड़े। भोला ने जेब से दो रुपये निकाल कर माँझी के हाथ में रख दिये। सलाम करके माँझी ने कहा—"फिर कब आइयेगा, भैया?"

"जल्द ही किसी दिन आयेंगे। तुम यहाँ मिलोगे न ?"

"हाँ, भैया, मैं यहाँ बराबर रहता हूँ। अगर किनारे पर न रहूँ, तो किसी से पूछ लीजियेगा कि घसीटे कहाँ रहता है। मैं सुनते ही हाजिर हो जाऊँगा।"

"अच्छा, घसीटे, हम लोग जब आयेंगे तो तुम्हारी तलाश कर लेंगे।"

"बन्दगी, भैया !"

तब वे आगे बढ़ कर गाँव में घुसे। इधर-उधर बैठे या खड़े हुये ग्रामवासी उन लोगों की ओर कौतूहल से देखने लगे।

"आ गये, भैया !" कोन्चवान ने कहा—"बड़ी देर लगाई ?"

"हाँ कुछ देर हो गई।"

"मैं घबरा रहा था कि क्या बात हो गई ?"

भोला ने कुछ उत्तर न दिया, शीघ्रता से गाड़ी में घुस गया। पूर्णिमा और दुर्गा भी सवार हो गये।

"घर चलूँ न, भैया ?"

"हाँ !"

कोन्चवान कोन्च-बक्स पर बैठ गया। लगाम खींची, घोड़े धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे।

१३

रात के दस बज चुके थे। भोला के कमरे में दुर्गा पलंग पर पड़ा हुआ था। कमरे में विद्युत प्रकाश फैला हुआ था। भोला सोने के लिए जनानखाने में चला गया था, इसलिये दुर्गा अकेला था। किन्तु यह एकान्त दुखद न था। यथार्थ तो यह है कि इस एकान्त की उसे प्रबल इच्छा थी। एकान्त के बिना आत्मचिन्तन कठिन है, और आत्मचिन्तन किये बिना इन दिनों उससे रहा नहीं जाता था।

दिन की दुर्घटना के कारण उसे जो कमजोरी मालूम हो रही थी, वह अब बिलकुल गायब हो चुकी थी। उसके स्वस्थ शरीर की रग-रग में विचित्र स्फूर्ति दौड़ रही थी। वह डूबने लगा था, किन्तु इसमें उसका कोई दोष न था। वह तैरना नहीं जानता था, और उसका पैर भी तो धोती में फँस गया था। यदि वह दोषी होता, तो वे उसकी हँसी अवश्य उड़ाते। उन लोगों के व्यवहार से, वाक्यों से, चेहरों के भावों से यहा स्पष्ट था कि उस दुर्घटना में उसका कोई दोष न था। उन लोगों से उसे अवहेलना नहीं, सेवा मिली, सहानुभूति प्राप्त हुई। और पूर्णिमा?

उसकी ओर देख कर तो वह सिहर उठा था। ऐसा जान पड़ा था मानो... अपनी निर्दोषिता के विषय में उसे जो किंचित संदेह था उसे पूर्णिमा की आँखों ने बिलकुल दूर कर दिया था, और...ऐसी सहानुभूति, ऐसा आदर, ऐसा आराम उसे पहले कहाँ प्राप्त हुआ था? पुजारीजी से, किन्तु...

सहसा कमरे में पूर्णिमा ने प्रवेश किया। उसके दाहिने हाथ में एक छोटा गिलास था।

"अभी आप सोये नहीं?"

"नहीं, अभी नींद नहीं मालूम हो रही है।" दुर्गा उठ कर बैठ गया।

उसकी ओर गिलास बढ़ा कर पूर्णिमा ने कहा—"इसे पी लीजिये।"

"यह क्या है?"

"एक टानिक है।"

"इसकी क्या जरूरत है?"

"पी लीजिये। इससे कोई नुकसान न होगा। फायदा ही होगा।"

तब गिलास लेकर दुर्गा टानिक पी गया। उस टानिक का स्वाद विचित्र था—कुछ कड़ुवा, कुछ मीठा।

"जल पीजियेगा?"

"मैं ले लूँगा।" पंलग से उतर कर, उधर खिड़की के समीप जाकर, गिलास में जल लेकर उसने कुल्ला किया, फिर गिलास धोने लगा।

एक कुरसी पर बैठ कर पूर्णिमा उसकी ओर देखने लगी। दुर्गा के चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई, शरीर में गुदगुदी पैदा हो गई, किन्तु गिलास

से दृष्टि हटा कर वह उसकी ओर न देख सका। गिलास धोने में आवश्यकता से अधिक समय लग गया।

पूर्णिमा के समीप जाकर उसने गिलास उसकी ओर बढ़ाया। फिर उसकी दृष्टि स्वतः उठ कर पूर्णिमा के चेहरे पर जम गई। आँखें झुका कर पूर्णिमा ने गिलास ले लिया। दुर्गा एक कुरसी पर बैठ गया और फ़र्श की ओर एकटक ताकने लगा।

दो-तीन क्षण तक पूर्णिमा निस्तब्ध बैठी रही, फिर उठ खड़ी हुई।

"अब आप आराम कीजिये, मैं जाती हूँ।"

पूर्णिमा कमरे के बाहर निकल गई। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर दुर्गा फिर फ़र्श की ओर एकटक ताकने लगा। पूर्णिमा इस समय टानिक लेकर क्यों आई थी? चाय पीने से तो उसे काफी आराम मिल गया था। फिर टानिक की क्या जरूरत थी? वह खुद लेकर क्यों आई? किसी नौकर के हाथ क्यों नहीं भेज दिया? उसकी ओर वह किस तरह देख रही थी? मा भी इसी तरह देखती थीं? हाँ...नहीं! बाबाजी इसी तरह देखते हैं? नहीं...नहीं! भोला? नहीं...नहीं! दिन के समय नौका में जब उसे होश आया था, तो इसी तरह वह उसकी ओर देख रही थी? नहीं...हाँ, हाँ! उस दिन जब वह पहली बार इस घर में आया था, तब भी उसने इसी तरह उसको देखा था? हाँ...हाँ!

उठ कर वह कमरे में इधर-उधर टहलने लगा। उसका शरीर विचित्र जोश में लहरें मार रहा था। चुपचाप बैठे रहना असह्य हो गया। आँखों की पलकें भारी हो गईं, मानो उसने कोई नशे की चीज पी ली हो। एक बार जब उसने भंग पी थी, तो उसकी दशा आज ही की सी हो गई थी। सहसा वह दीवार पर टँगे हुये शीशे के सामने जा खड़ा हुआ। अपनी उस प्रफुल्ल छाया की ओर देखता हुआ, वह कई क्षण

मंत्र-मुग्ध-सा खड़ा रहा, फिर वह मुस्कराने लगा। उस मुस्कान में आत्म-गौरव था। आत्मगौरव की आड़ में छिपी हुई स्वाभाविक लज्जा एकाएक सामने से आकर आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगी। तब वह शीशे के सामने हट कर टहलने लगा। वह खिड़की के सामने जा खड़ा हुआ। मंद, सुमधुर समीर उसके चेहरे पर मीठी-मीठी थपकियाँ देने लगा, बालों को बिखेरने लगा। उसने आँखें बन्द कर लीं। कई क्षण बीत गये। पैर सहसा लड़खड़ाने लगे। तब वह पलंग पर लेट कर करवटें बदलने लगा। पूर्णिमा? उसकी आँखों का वह भाव!...शून्य! आँखें बन्द हो गईं, निद्रा-देवी लोरियाँ गाने लगीं।

उषा की लालिमा जब क्षितिज को रक्तरंजित करने लगी और अगणित पक्षियों का कलरव वायुमंडल में गूँजने लगा, तो दुर्गा की आँखें खुलीं। अँगड़ाई लेकर वह उठ बैठा। वह स्वप्न कैसा सुन्दर था! स्वप्न में क्या दिखाई दे रहा था? कुछ याद नहीं आता। लेट कर, आँखें बन्द कर, वह उस स्वप्न को फिर देखने की कोशिश करने लगा। कई क्षण बीत गये, किन्तु कुछ दिखाई न दिया। तब ऊब कर आँखें खोल कर, वह उठा, पलंग से उतरा, और एक कुरसी पर बैठ कर खुली हुई खिड़की की ओर देखने लगा। खिड़की के उस ओर बैठी हुई एक छोटी-सी चिड़िया चोंच ऊपर उठाये गा रही थी। उसके पर भूरे थे, चोंच काली थी, गले के रोयें नीले थे। मुस्कराता हुआ वह उसकी ओर ध्यान से देखने लगा। इसको क्या कहते हैं? पहले तो इसे कहीं नहीं देखा था। खूब गाती है! इसे नजदीक से देखना चाहिये। तब वह सावधानी से उठ कर धीरे-धीरे खिड़की की ओर चला। चिड़िया सहसा निस्तब्ध हो गई। खिड़की के समीप पहुँच कर, दीवार की आड़ में खड़े होकर, उसने उसकी ओर झाँका। चिड़िया उड़ गई। कई क्षणों तक वह उसकी ओर देखता हुआ खड़ा रहा, फिर मुड़ कर गुसलखाने की ओर चला गया।

शौचादि से निवृत्त होकर, नहा-धोकर, आधे-घंटे के बाद वह गुसलखाने से बाहर निकला, तो भोला कमरे में उपस्थित था।

"कहो, दुर्गा, क्या हाल है?" भोला ने मुस्कराते हुये पूछा।

"अच्छा है।" दुर्गा ने मुस्कराते हुये उत्तर दिया।

"तबीयत तो बिलकुल चंगी है न?"

"हाँ, बिलकुल ठीक है।"

"मैंने तो समझा था कि शायद तुम अभी न उठे होगे।"

"नहीं, भाई, मैं तो तड़के ही उठता हूँ।"

"मैं तो यार, रोज देर तक सोता रह जाता हूँ। लेकिन आज इतने सवेरे ही आँख खुल गई।"

दुर्गा भोला के समीप एक कुरसी पर बैठ गया।

"आज सिनेमा देखने चलोगे, दुर्गा?"

"मैं तो, भाई सिर्फ दो बार सिनेमा देखने गया था, लेकिन दोनों दफा बिलकुल मजा नहीं आया।"

"क्यों?"

"शायद इसलिए कि मैं दोनों बार खेलों को ठीक तरह समझ नहीं सका।"

"लेकिन, आज तो मैं साथ रहूँगा, समझाता चलूँगा।"

"अच्छी बात है, चलूँगा।"

भोला उठ कर गुसलखाने की ओर चला गया। दुर्गा एक पुस्तक पढ़ने लगा।...

अस्ताचल के समीप पहुँचे हुये सूर्य की मन्द रश्मियाँ वृहदाकार वृक्षों की लहराती हुई चोटियों पर नाच रही थीं। ठीक समय था छः

बज कर बीस मिनट। भोला की मोटर पैलेस थियेटर के सामने पहुँच कर, मुड़ कर, रुक कर, आठ-दस बार चीख कर, रास्ता पा कर, आगे बढ़ कर, अन्य मोटरों की भीड़ में जा मिली। तुरन्त दरवाजा खोल कर पूर्णिमा उतर पड़ी, उसके पीछे दुर्गा उतरा, फिर भोला।

"मैं रुका रहूँ, भैया?" शोफर ने उतर कर पूछा।

एक क्षण सोच कर भोला ने कहा—"नहीं, तुम जाओ, राजाराम! लेकिन देखो, ठीक नौ बजे यहाँ आ जाना।"

"नौ बजे? बहुत अच्छा, भैया, नौ बजे यहाँ हाजिर हो जाऊँगा।"

तब वे मोटरों की लम्बी कतारों के बीच में बनी हुई पतली गली में चलने लगे। पूर्णिमा प्रसन्न थी। भोला सन्तुष्ट था। दुर्गा झिझक रहा था, कुछ परेशान नजर आता था। पूर्णिमा को प्रसन्न करने में उसकी कत्थई रंग की रेशमी साड़ी का, कामदार, मखमली, नाजुक जूतों का समुचित भाग था। रेशमी बनियाइन से, रेशमी कमीज से, चाइना-सिल्क के सूट से, रेशमी मोजों से, पेटेंट लेदर के चमकदार जूतों से संतोष की रेखाएँ निकल-निकल कर, भोला के शरीर में, हृदय में, आत्मा में घुस कर किलोलें कर रही थीं। किन्तु दुर्गा झिझक रहा था, परेशान था, इसलिये कि उसे, इच्छा-अनिच्छा की दशा में, भोला की रेशमी कमीज रेशमी सूट, रेशमी कालर, रेशमी टाई, रेशमी मोजे, पेटेंट लेदर के चमकदार जूते पहिनने पड़े थे। यह सब पहिनने की क्या जरूरत थी? लेकिन...

थियेटर की सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते, भोला ने कहा—"देखो, दुर्गा, कैसी भीड़ है! टिकट शायद मुश्किल से मिलेंगे।"

"हाँ, भीड़ तो बहुत है। टिकट सचमुच न मिलेंगे क्या? न मिले,

तो यहाँ आना व्यर्थ हो जायगा। नहीं मिलेंगे। न मिलें...तो भी कोई बुराई नहीं।"

थियेटर का लम्बा-चौड़ा बरामदा दर्शकों से खचाखच भरा था। सैकड़ों मनुष्य इधर-उधर आ-जा रहे थे, इश्तहार पढ़ रहे थे, तस्वीरें देख रहे थे, खड़े बातें कर रहे थे या टिकट खरीद रहे थे। दर्शकों में हिन्दुस्तानी, एँग्लो-इंडियन और यूरोपियन सभी थे। भीड़ में किसी तरह घुस कर, धीरे-धीरे आगे बढ़ कर ये टिकट-घर के समीप पहुँच गये। खिड़की के सामने खरीदारों की खासी भीड़ लगी हुई थी। नोट और रुपये निरन्तर खिड़की के अन्दर खिसक रहे थे, बदले में टिकट-पर टिकट निकल रहे थे। मंत्र-मुग्ध दृष्टि से दुर्गा यह दृश्य देख रहा था। कैसी विचित्र चीज है टिकट! उसके सामने धन का क्या मूल्य है? हाँ, वह बहुमूल्य है—मनोरंजन के तिलिस्मी महल की कुँजी है! पाँच मिनट के बाद भोला की बारी आई।

"तीन—फर्स्ट-क्लास।" भोला ने दस का एक नोट खिड़की के भीतर खिसका दिया।

दो-तीन क्षण के बाद दो रुपया एक अठन्नी और अव्वल दर्जे के तीन टिकट खिड़की से बाहर निकल आये। टिकट और रुपये लेकर, मुस्कराता हुआ भोला खिड़की से हटा। तब वे तीनों मुड़ कर भीड़ में होते हुए अव्वल दर्जे के उस द्वार की ओर चले।

"हम लोग बड़े मौके से पहुँचे, दुर्गा! अगर थोड़ी-सी और देर हो जाती तो टिकट न मिलते।"

"हाँ, भीड़ तो खूब है।"

पूर्णिमा ने कहा—"जब कोई अच्छा फ़िल्म आता है, तो यहाँ यही हालत रहती है। इसीलिये पहले रोज आना मैं पसन्द नहीं करती।"

"लेकिन, पूनो, पहले रोज नई चीज देखने में जो मजा आता है, वह बाद में नहीं आता। सब लोग पहले ही रोज देखना पसन्द करते हैं।"

"हाँ, यह तो ठीक है, लेकिन..."

अव्वल दर्जे का द्वार सामने आ गया। आगे बढ़ कर भोला ने गेट-कीपर के हाथ में टिकट दे दिये।

एक-एक कर तीनों ने अन्दर प्रवेश किया। बहुत बार अपरिचित व्यक्तियों से क्षमा-याचना कर, किसी तरह खाली कुरसियों के समीप पहुँच कर, बैठ कर, उन लोगों ने शान्ति की साँस ली। भोला रेशमी रूमाल निकाल कर पसीना पोंछने लगा। दुर्गा कौतूहल से इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा। पूर्णिमा एक अँगुली पर आँचल का एक छोर लपेटने लगी।

हाल करीब-करीब भर गया। कुरसियों और बेंचों पर बैठे हुए दर्शक वृन्द धूम्र-पान कर रहे थे। धीरे-धीरे वार्त्तालाप कर रहे थे या मंच पर लगे हुये सफेद परदे की ओर उत्सुकता से देख रहे थे। मानव-कंठों से निकली हुई ध्वनियाँ नवीन सभ्यता की उस रमणीक रंगशाला में गूँज रही थीं। किन्तु यहाँ वह कर्ण-कटु कोलाहल न था, जो नगर के उन थियेटरों में सुनाई देता है, जहाँ वे असभ्य, भाग्यहीन लोग जाते हैं, जिनमें अपने मनोभावों को सभ्यता के रंगीन परदे में छिपाने की क्षमता नहीं होती।

"ओफ! कैसी गर्मी है!" जेब से रेशमी रूमाल निकाल कर भोला हवा करने लगा।

"हाँ, सख्त गर्मी है!" दुर्गा ने अर्द्धचेतना की दशा में कहा।

"पंखा इस जगह नहीं है क्या? है तो, चल क्यों नहीं रहा है?

अच्छा, अभी मैं इसे खुलवाता हूँ ।" भोला उठ कर उधर खड़े हुए उस गेट-कीपर की ओर चला ।

दुर्गा ने उस मोटे युवक की ओर देखा । दुर्गा को अपनी ओर देखते देख कर, वह दूसरी ओर देखने लगा । कैसा छूटा हुआ घाव है ! दुर्गा की भौंहें सिकुड़ गईं, आँखें बढ़ कर अग्नि-वर्षा करने लगीं, चेहरा लाल हो गया ।

"अब खेल शुरू..." दुर्गा के चेहरे की ओर देख कर, चकित होकर, पूर्णिमा रुक गई ।

"हाँ,...दो-चार मिनट की देर मालूम होती है ।" फर्श की ओर ताकते हुये, मनोभावों को दबाते हुये दुर्गा ने कहा ।

"आपको प्यास लगी है क्या ?"

"नहीं तो..."

"फिर...आप ?"

दुर्गा अब सँभल चुका था । प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसने पूर्णिमा की ओर देखा । उसकी आँखों में लिखे हुए प्रश्न की आड़ में छिपे हुए भाव की एक झलक देख कर पूर्णिमा ने गर्दन झुका ली । अन्तस्तल में कहीं छिपा हुआ कोई अज्ञात भाव एकाएक बाहर निकल आया । प्रशान्त मुखमंडल पर लालिमा दौड़ने लगी ।

पहली घंटी बजी । रंगशाला की बहुत-सी बत्तियाँ बुझ गईं । प्यानो बजने लगा । दर्शक निस्तब्ध होकर सँभल कर बैठ गये । पंखा चलने लगा, भोला अपनी कुरसी पर आ डटा ।

दूसरी घंटी बजी । शेष बत्तियाँ भी बुझ गईं, अंधकार छा गया । ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो रंगशाला का सारा प्रकाश, तीव्र होकर, मंच पर लगे हुये सफेद, चौकोर परदे पर केन्द्रित हो गया हो । दर्शक समुदाय का सामूहिक ध्यान भी उसी परदे पर केन्द्रित हो गया ।

तीसरी घण्टी बजी। परदे पर बोर्ड आफ सेंसर्स का सार्टीफिकेट दृष्टिगोचर हुआ। सार्टीफिकेट में फिल्म का नाम था, उसकी लम्बाई का विवरण था, और उसे बनानेवाली कम्पनी का पता। दो क्षण में सार्टीफिकेट अदृश्य हो गया। अब परदे पर कथा-लेखक, डाइरेक्टर, फ़ोटोग्राफर आदि के नाम दिखाई दिए। इसके बाद पात्रों का परिचय आया और अदृश्य हो गया। अब वह फिल्म दर्शकों को रूस के शक्ति-शाली साम्राज्य में खींच ले गया। जरीना का विशाल राज्य-प्रसाद सामने आ गया। उस विशाल महल के विशाल फाटक पर सशस्त्र सवारों का पहरा था। उन्हीं सशस्त्र सवारों में उस विचित्र अभिनय का विचित्र नायक था। नायक का पार्ट कर रहा था रूडोल्फ वेलेंटीनों। सवारों की उस भद्दी वर्दी में भी रूडोल्फ रूपवान दिखाई देता था। साम्राज्ञी की गाड़ी फाटक पर आकर रुकी। सिपाहियों ने अदब के साथ सलाम किया। रूडोल्फ के चेहरे पर साम्राज्ञी की दृष्टि अटक गई, वह उसके ऊपर आसक्त हो गई। गाड़ी महल में चली गई।

साम्राज्ञी की आज्ञानुसार वह सवार उसके सामने पेश किया गया। वृद्ध साम्राज्ञी की आँखों का भाव देख कर, युवक सवार सिहर उठा। साम्राज्ञी ने आँखों से संकेत किया, सचिव महोदय कमरे से बाहर निकल गये। अब वह कामातुर वृद्धा उस स्वरूपवान् सवार की पीठ पर, सीने पर, चेहरे पर, सिर पर हाथ फेर-फेर कर उसका निरीक्षण करने लगी। देर तक झुर्रियों से भरे हुये किन्तु बहुमूल्य अँगूठियों से चमकते हुए उसके हाथ उसके शरीर पर फिरते रहे। निरीक्षण आखिर किसी तरह समाप्त हो गया। साम्राज्ञी की बाँछें खिल गईं। रूडोल्फ की बड़ी-बड़ी आँखों में अपनी नन्हीं-नन्हीं आँखें मिला कर वह मुस्कराने लगी। सवार इस तरह खड़ा था, मानो वह पत्थर की मूर्त्ति हो, मानो अपने हृदय के क्रोध से, घृणा से, वह लड़ रहा हो।

सम्राज्ञी ने मुस्कराते हुये कुछ कहा। सिर झुका कर, कृत्रिम ढंग से मुस्कराते हुये, सवार ने कुछ उत्तर दिया।

तब वृद्धा सम्राज्ञी एक मेज के समीप गई, भरी हुई शीशे की सुराही से एक गिलास में शराब उँडेली। मुस्कराते हुये उसने गिलास उसकी ओर बढ़ा दिया। सिर झुका कर, सवार ने अदब से गिलास ले लिया। सम्राज्ञी दूसरी ओर देखने लगी। तुरन्त गिलास होंठों से हटा कर, सवार ने शराब एक कोने में फेंक दी। सम्राज्ञी ने जब उसकी ओर देखा, तो वह रूमाल से होंठ पोंछ रहा था। संतुष्ट होकर वह मुस्कराने लगी। मुस्कराता हुआ सवार फर्श की ओर ताकने लगा। उसके समीप जाकर वृद्धा सम्राज्ञी ने उसके गले में हाथ डाल कर उसके कपोलों का चुम्बन किया। साँस रोके हुए, निस्तब्ध, निश्चल खड़ा हुआ सवार वह विकट यंत्रणा सहता रहा। आखिर उस यंत्रणा का अन्त हुआ। फिर उक्त सचिव की भेंट हुई। सचिव महोदय ने सम्राज्ञी की आसक्ति की बात उसे बताई और इस असीम सौभाग्य द्वारा प्राप्त हो सकनेवाले अलभ्य सम्मान तथा आर्थिक लाभ का वर्णन किया। सचिव महोदय से जब सवार विदा हुआ, तो उसका हृदय घृणा से जल रहा था। सोच-विचार कर वह राजधानी से भाग निकला।

भोला की सहायता से समझ- समझ कर, दुर्गा वह विचित्र अभिनय देख रहा था। भोला ठीक समझ रहा था, या नहीं, यह सन्देहात्मक है। किन्तु जो कुछ वह समझ रहा था, उसे दुर्गा को ऐसे गर्व से समझा रहा था, मानो उस अभिनय का रचियता वह स्वयं हो।

एक सराय में पहुँच कर वेष बदले हुए सवार को ज्ञात हुआ कि उसके नाम वारंट निकला है और उसे पकड़वा देने के लिये इनाम का प्रलोभन दिया गया है। सराय से निकल कर एक गाड़ी में सवार होकर

वह बदमाशों के अड्डे की ओर चला, जो एक बीहड़ स्थान में था। उसकी जेब में एक पत्र था, जो उसने एक अपरिचित व्यक्ति से छीन लिया था। बदमाशों के सरदार को अपनी पुत्री के लिये एक शिक्षक की आवश्यकता थी। उस व्यक्ति ने अर्जी भेजी थी। उस पत्र में उसकी नियुक्ति की सूचना थी। सम्राज्ञी के क्रोध से बचने के लिये ऐसा सुयोग पा जाने के कारण सवार की खुशी का ठिकाना न था।

आधा खेल समाप्त हो गया। घंटी बजी। बत्तियाँ रोशन हो गईं। रंगशाला प्रकाश से भर गई। प्यानो बंद हो गया। अन्य दर्शकों की भाँति पूर्णिमा, दुर्गा और भोला भी बाहर निकले।

"कैसा खेल है, दुर्गा?" भोला ने मुस्कराते हुये पूछा।

"जैसा है...अच्छा है!" दुर्गा ने किंचित असन्तोष भरे स्वर में कहा

"तुम्हें पसन्द नहीं आया?"

"भई...सच तो यही है कि मुझे पसन्द नहीं आया।"

"क्यों?"

"ऐसी चीजें देखने से हम लोगों को क्या फायदा हो सकता है?"

"फायदा?...ठीक कहते हो, दुर्गा, ऐसी चीज देखने से हम लोगों को फायदा नहीं हो सकता। लेकिन यार, यह बात मुझे सूझी नहीं थी।"

पूर्णिमा ने असंतुष्ट स्वर में कहा—"अगर मुझे यह मालूम होता कि यह फिल्म ऐसा है, तो मैं न आती।"

"खैर, अब तो हम लोग आ ही चुके हैं, इसे देख ही लेना ठीक होगा।"

"हाँ, देख लेने में कुछ ज्यादा हर्ज तो नहीं है।" दुर्गा ने अन्य-मनस्कता से कहा।

"लेमनेड पियोगे, दुर्गा?"

"कोई जरूरत तो नहीं मालूम होती।"

"आओ, पी लें यार, हर्ज क्या है?"

तब वे उस ओर की एक दूकान की ओर चले।

१४

"आदाब-अर्ज, बाबू भोलानाथ साहब !"

एक भारी-भरकम युवक समीप आकर मुस्कराने लगा। भोला रुक गया। पूर्णिमा और दुर्गा आगे बढ़ गये।

"आदाब-अर्ज! कहिये, बाबू सोहनलाल, कैसा मिजाज है?"

"आप की इनायत है, जनाब! कहिये, आपको यह फिल्म कैसा पसन्द आया? लाजवाब चीज है यार, वाह!"

"हम लोगों को तो कुछ पसन्द नहीं आया, जनाब!"

"अच्छा!" आँखें फाड़ कर, मुँह खोल कर, सोहनलाल आश्चर्य से भोला की ओर देखने लगा।

"इरादा हो रहा है कि हम लोग अब चले जायँ। यह फिल्म बिलकुल वाहियात है।"

"कहीं ऐसा गजब न कीजिएगा, जनाब! आगे इसमें बड़ा लुत्फ़ है। मैं इसे बहुत पहले एक बार देख चुका हूँ।"

"अच्छा! आप इसे पहले देख चुके हैं?"

"जी हाँ, और मैंने इसे बहुत पसन्द किया है। अच्छा, यह तो बताइये, आपके साथ कौन-कौन साहब हैं ?"

"पूनो है, और मेरे एक दोस्त हैं।"

"अच्छा, पूर्णिमादेवी भी आई हुई हैं! कहाँ हैं वे लोग ?"।

"उधर उस दूकान पर हैं।"

"तो चलिए, जरा नियाज तो हासिल कर लूँ।"

"आइए।"

दो-तीन क्षण में वे उस दूकान पर पहुँच गये। उस युवक की ओर देख कर दुर्गा के हृदय में क्रोध उमड़ने लगा। यह वही युवक था जिसे उसने खेल शुरू होने के पहले पूर्णिमा की ओर घूरते देखा था। किन्तु उसे भोला के साथ देख कर वह अपने मनोभाव को दबाने की चेष्टा करने लगा।

पूर्णिमा की ओर देख कर, दाँत निकाल कर, मुस्कराते हुये सोहनलाल ने जोर से कहा—"आदाब-अर्ज !"

"नमस्कार !" एक बार उसकी ओर अन्यमनस्क भाव से देख कर पूर्णिमा जमीन की ओर ताकने लगी।

"आपका मिजाज कैसा है ?"

"अच्छा है।"

"आपकी तारीफ़ कीजिए बाबू भोलानाथ !"

"आप मेरे दोस्त हैं। आपका नाम है दुर्गादत्त।"

"नमस्कार !" दुर्गा ने मुस्कराने की कोशिश की, किन्तु असफल रहा। तब वे इच्छानुसार लेमनेड या शरबत पीने लगे।

घण्टी बजी। दर्शक-वृन्द फिर रंगशाला में प्रवेश करने लगे। पूर्णिमा, भोला और दुर्गा भी अपने-अपने स्थान पर जा बैठे।

"मैं भी यहीं आ गया, बाबू भोलानाथ।" यह सोहनलाल की आवाज़ थी।

"बहुत अच्छा किया। आइये!"

पूर्णिमा की बगल में एक कुरसी खाली थी। सोहनलाल उसी पर डट गया।

बत्तियाँ बुझ गईं। प्यानो बजने लगा। खेल शुरू हुआ।

वह सवार शिक्षक के वेश में बदमाशों के अड्डे में पहुँच गया। समुचित ढंग से शिक्षक महोदय का स्वागत हुआ। वहाँ आराम से रह कर वह सरदार की बेटी को शिक्षा देने लगा। डाकू की बेटी सुन्दर युवती थी। उस युवती से सवार की पहले ही भेंट हो चुकी थी। दोनों के हृदयों में प्रेम पहले ही अंकुरित हो चुका था। अब वह सुदृढ़ होने लगा।

"दादा!" एकाएक पूर्णिमा धीरे से बोली।

"क्या है, पूनो?"

"मैं घर जाना चाहती हूँ।"

"क्यों?"

"तबीयत अच्छी नहीं है, चक्कर-सा आ रहा है।"

"चक्कर आ रहा है? अच्छा, चलो चलें।"

तब वे तीनों बाहर निकल आए। दो-तीन क्षण बाद सोहनलाल भी बाहर निकला और उन लोगों के पीछे चला।

पूर्णिमा का चेहरा लाल हो गया था। ऐसा जान पड़ता था, मानो वह क्रोध से जल रही हो।

"मोटर तो अभी न आई होगी। लेकिन कोई हर्ज नहीं, एक ताँगा ले लेंगे। अब तबीयत कैसी है, पूनो?"

"अब तो कुछ...अच्छी है।"

"शायद गरमी की वजह से तुम्हें चक्कर आ गया।"

"हाँ।"

गाड़ियों के अड्डे पर पहुँच कर, अपनी मोटर न पाकर वे एक ताँगे पर सवार हो गए।

"तो आप लोग जा रहे हैं?" एक ओर से निकल कर सोहनलाल ताँगे के समीप आ खड़ा हुआ।

"हाँ, जनाब, अब हम लोग जा रहे हैं।"

"अगर मुमकिन हुआ, तो शायद मैं कल आपके दौलतखाने पर हाजिर हूँगा।"

"बड़ी खुशी की बात है। जरूर तशरीफ लाइयेगा।"

"आदाब-अर्ज !"

"आदाब-अर्ज !"

मुस्कराते हुये, पूर्णिमा की ओर देख कर, सोहनलाल ने सलाम किया। मुख मोड़ कर पूर्णिमा दूसरी ओर देखने लगी। उसका चेहरा फिर लाल हो गया। अपने उस मनोभाव से वह फिर लड़ने लगी। दुर्गा की दशा भी ठीक ऐसी ही थी।

ताँगा बढ़ा और हवा से बातें करने लगा।

"अजीब शख्स है सोहनलाल !" भोला ने हँसते हुये कहा।

"उसे देख कर मुझे तो क्रोध आ जाता है।" घृणा-मिश्रित स्वर में पूर्णिमा बोली।

"वह कौन है?" दुर्गा ने पूछा।

"वह पापा के एक दोस्त का लड़का है। यहीं सिविल लाइंस में उसकी एक बहुत बड़ी दूकान है।"

"क्या वह अपनी दूकान में काम करता है ?"

"नहीं, अभी तो पढ़ता है। एफ० ए० में दो साल से फ़ेल हो रहा है !"

"अच्छा !"

उस भारी-भरकम युवक के विषय में अब अधिक जानने की दुर्गा को इच्छा न थी।

"आज सिनेमा देखना फिजूल हुआ।"

पूर्णिमा ने तुरन्त समर्थन किया।

"मैं तो रूडाल्फ वेलेन्टीनो के ख्याल से आया था। लेकिन क्या जानता था कि ऐसा रद्दी फिल्म देखने को मिलेगा ?"

"हाँ, फिल्म के नाम से उसके बारे में कुछ नहीं जाना जा सकता।"

तब निस्तब्ध होकर, तीनों अपने-अपने विचारों में मग्न हो गये। सुनील गगन-मण्डल में अगणित तारिकाएँ मुस्करा रही थीं। शीतल बयार बह रही थी। सड़क के दोनों ओर खड़े हुए वृत्ताकार वृक्षों की डालें हिलोरें ले रही थीं। सभ्यता की उस रंगशाला में इतनी देर तक बन्द रहने के बाद, शीतल बयार का मधुर स्पर्श उन लोगों को अत्यन्त सुखद प्रतीत हो रहा था। बंगला सामने आ गया।

"ताँगा यहीं रोक दो, ताँगेवाले !"

"क्या, हुजूर ?"

"यहीं रोको।"

"बहुत अच्छा।"

फाटक के सामने ताँगा रुक गया। भोला ने ताँगेवाले को किराया दिया। सलाम करके ताँगेवाले ने ताँगा बढ़ाया। तब वे तीनों बंगले में घुसे।

विद्युत-प्रकाश से जगमगाते हुए बरामदे में एक ओर बैठा हुआ उजागिर ऊँघ रहा था।

"उजागिर!"

"हाँ भैया!" चौंक कर, आँखें खोल कर, उजागिर बोला।

"तुम सो क्यों रहे हो?"

"सोता नहीं था, भैया।"

"पापा घर पर नहीं हैं क्या?"

"नहीं, भैया! माजी और सरकार साँझ ही से कहीं घूमने गए हैं।"

"अच्छा देखो, राजाराम से कह दो कि हम लोग आ गये।"

"भैया, वह तो बड़ी देर हुई मोटर लेकर गया था।"

"अच्छा! कितनी देर हुई?"

"एक घण्टा हुआ।"

"हम लोगों को तो नहीं मिला। कहीं इधर-उधर घूमता होगा।"

दुर्गा और भोला अपने कमरे में चले गए। पूर्णिमा भीतर चली गई और अपने सुसज्जित कमरे में पहुँच कर, उसने रोशनी की, पंखा चलाया, फिर पंखे के नीचे पड़ी हुई आरामकुरसी पर लेट कर छत की ओर ताकने लगी। तुरन्त उस कोने में रखी हुई मेज के नीचे से एक सुन्दर बिल्ली 'म्याऊँ-म्याऊँ' करती हुई बाहर निकली और पूर्णिमा के पैरों के समीप जाकर, बैठ कर, उसके चेहरे की ओर कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखने लगी। छत से उतर कर, पूर्णिमा की दृष्टि सामने दीवार पर जम गई।

"म्याऊँ! म्याऊँ!" बिल्ली पूर्णिमा के बाएं पैर पर अपनी गर्दन रगड़ने लगी।

तब दीवार से खिसक कर पूर्णिमा की दृष्टि बिल्ली की दृष्टि से मिल गई। सिर झुका कर, बिल्ली चिन्तित भाव से फ़र्श की ओर ताकने लगी। पूर्णिमा की दृष्टि फिर उठ कर सामने दीवार पर जम गई। सामने दीवार पर उस विचित्र अभिनय के चित्र आ-जा रहे थे, जिसे अभी थोड़ी देर पहले वह उस रंगशाला में देख रही थी। जरीना के सामने वह स्वरूपवान सवार पत्थर की मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा हुआ था। वृद्धा जरीना निर्लज्जता से उसकी ओर घूर रही थी। अन्दर धुसी हुई उसकी उन छोटी-छोटी आँखों में कैसी निर्लज्जता थी! इशारा पाकर, वह सचिव कमरे से बाहर निकल गया था। तब सम्राज्ञी सवार के समीप जाकर, उसके सिर पर, चेहरे पर, सीने पर, पीठ पर, हाथ फेरने लगी थी। बहुमूल्य अँगूठियों से चमचमाते हुये उसके हाथ झुर्रियों से भरे थे! सवार मूर्त्तिवत्, निस्तब्ध निश्चल खड़ा रहा। शराब से भरा हुआ गिलास सम्राज्ञी ने सवार की ओर बढ़ा दिया। अदब से सवार ने गिलास ले लिया। होंठों तक ले गया, फिर सम्राज्ञी की नजर बचा कर शराब एक कोने में फेंक दी। सम्राज्ञी ने जब उसकी ओर देखा, तो वह रूमाल से मुख पोंछ रहा था। मुस्कराती हुई वह वृद्धा उसके समीप गई, फिर उसके गले में हाथ डाल कर, उसके कपोलों का चुम्बन करने लगी। कैसा बीभत्स दृश्य था वह! पूर्णिमा ने आँखें बन्द कर लीं। ऐसा फिल्म देखने से किसी को क्या लाभ हो सकता है? सचमुच कोई लाभ नहीं हो सकता। दुर्गा ने बिलकुल ठीक कहा था। कैसा समझदार लड़का है दुर्गा! हाँ वह कैसा सरल कैसा निष्कपट, कैसा गम्भीर और कैसा शान्त है! ऐसा नवयुवक आज तक कहीं देखने को नहीं मिला। वह एक सोहनलाल भी है। जाने दो उस बेहूदे की बात!

"म्याऊँ—म्याऊँ! म्याऊँ—म्याऊँ!" उसकी साड़ी पकड़ कर, खड़ी होकर, वह बिल्ली उसका ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा कर रही थी।

आँखें खोल कर पूर्णिमा ने उसकी ओर देखा। अब वह अपनी उस संगिनी के स्वाभाविक अनुरोध की अवहेलना न कर सकी। उसे उठा कर उसने अपनी गोद में ले लिया।

"म्याऊँ! म्याऊँ!" प्रसन्नता से बिल्ली की बाँछें खिल गईं।

दो-तीन बार उसका मुख चूम कर वह उसके बाल सहलाने लगी। प्रसन्न होकर बिल्ली ने आँखें बन्द कर लीं।

पूर्णिमा दीवार की ओर ताकने लगी। शिक्षक के वेष में सवार बदमाशों के उस अड्डे में पहुँच गया। वहाँ उसका यथोचित स्वागत हुआ। सवार को देख कर सरदार की बेटी अत्यन्त प्रसन्न हुई। इसी व्यक्ति से पहले उसकी भेंट हो चुकी थी। शिक्षक महोदय सरदार की बेटी के साथ एक कमरे में बैठे हुये थे। पढ़ने-पढ़ाने के लिये दोनों एकत्र हुये थे, लेकिन होने लगी प्रेम-क्रीड़ा! सवार की आँखों का वह भाव! सहसा पूर्णिमा का...हाथ किसी—ने पकड़ लिया। एँ! पूर्णिमा ने तुरन्त अपना हाथ एक झटका देकर छुड़ा लिया था। कैसा बेहूदा, कैसा बेशर्म है सोहनलाल! उसके जी में आया था कि उसके मुख पर थप्पड़ जमा दे। किन्तु उस भीड़-भाड़ में शोर-गुल पैदा कर देना क्या उचित था? नहीं। कुरसी से उठ कर वह कमरे में इधर-उधर टहलने लगी।

क्रोध का आवेग कुछ कम हो गया। दुर्गा कैसा सच्चरित्र है! हाँ, उसने कभी कोई अनुचित भाव नहीं प्रकट किया। वह निरीह है, गरीब है, किन्तु चरित्रवान है! वह दो...ग...ला...है! दोगला है? नहीं, वह दोगला नहीं हो सकता। हो भी, तो इसमें उसका क्या दोष है? कुछ नहीं! हाँ, अम्मा तो यही कहती थीं। ठीक कहा था अम्मा ने, बिलकुल ठीक कहा था।

सरदार की बेटी की ओर देखती हुई सवार की आँखों का वह भाव कैसा विचित्र था! उस दिन ड्राइंग-रूम में दुर्गा ने भी तो... उसकी ओर...उसी तरह...देखा था। जाने दो इस बात को। हाँ, उसकी आँखों में वही भाव था। कल डोंगी में जब उसकी बेहोशी दूर हुई थी, तो उसने उसकी ओर ठीक उसी तरह देखा था। होगा! दीवार पर लटके हुये एक बड़े शीशे के सामने वह खड़ी हो गई, उसके होंठों पर मुस्कान व्यक्त हो गई। उसे देख कर कोई...

"पूनो बिटिया!"

झिझक कर, लजा कर, मुड़ कर, पूर्णिमा ने देखा, तुलसी कमरे में दरवाजे के समीप खड़ी हुई थी।

"क्या है, तुलसी?"

"चलो, बिटिया, बहूजी ने बुलाया है।"

"क्यों बुलाया है?"

"खाना खाने के लिये।"

"सब लोग खा चुके क्या, तुलसी?"

"हाँ, बिटिया, सब लोग खा चुके। सिरिफ बहूजी बाकी हैं।"

"मेरा खाना यहीं दे जा।"

"क्यों, बिटिया? वहीं चलो न। न चलोगी, तो बहूजी मेरे ऊपर नाराज होंगी।"

"बक-बक न कर, तुलसी! जाकर मेरा खाना यहीं ले आ।"

"अच्छा, बिटिया, बिगड़ो न, जाती हूँ।" शंकित दृष्टि से पूर्णिमा के चेहरे की ओर देख कर तुलसी कमरे के बाहर निकल गई।

पूर्णिमा कुरसी पर लेट गई।...

ग्यारह बज चुके थे। अँधेरे कमरे में पलंग पर पड़ा हुआ, दुर्गा करवटें बदल रहा था। नींद का अभी कहीं पता न था। आज संध्या समय उसके हृदय में एकाएक जो तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था, वह रह-रह कर जोर पकड़ रहा था।

रंगशाला दर्शकों से करीब-करीब भर चुकी थी। कुरसियों पर बैठे हुये दर्शक-वृन्द धूम्रपान कर रहे थे, धीरे-धीरे वार्त्तालाप कर रहे थे, या मंच की ओर उत्सुकता से देख रहे थे। अन्य रंगशालाओं की भाँति वहाँ असभ्य कोलाहल न था। यह देख कर दुर्गा को संतोष हुआ, प्रसन्नता हुई। किन्तु सहसा उसने देखा, उस ओर बैठा हुआ एक गोरा-चिट्ठा, भारी-भरकम युवक पूर्णिमा की ओर घूर रहा था। दुर्गा के शरीर में आग-सी लग गई, क्रोध से उसका चेहरा लाल हो गया। उसके जी में आया कि वह उसे पटक कर खूब पीटे, किन्तु उस भीड़-भाड़ में झगड़ा करना अनुचित था। इसीलिये तो अपने को किसी तरह सँभाल कर वह बैठा रह गया था। दुर्गा को अपनी ओर क्रोधित दृष्टि से देखता पा कर, वह युवक दूसरी ओर देखने लगा था।

आधा फिल्म खतम हो गया। इंटर्वल हो गया। बत्तियाँ जल गईं। रंगशाला प्रकाश से भर गई। वे तीनों बाहर निकले और शर्बत की एक दूकान की ओर चले। सहसा एक ओर से आकर उसी भारी-भरकम युवक ने भोला को सलाम किया। दुर्गा को फिर क्रोध चढ़ आया। भोला रुक कर उस युवक से बातें करने लगा। पूर्णिमा और दुर्गा आगे बढ़ कर शर्बत की दूकान पर पहुँच गये। एक मिनट में उस युवक को साथ लिये हुये भोला भी आ पहुँचा। फिर साधारण शिष्टाचार के नियमों का पालन किया गया। किन्तु उस निर्लज्ज युवक से परिचित होकर क्या उसे खुशी हुई? नहीं, तनिक भी नहीं हुई। वह एक सौदागर का बेटा

है, अमीर है, एफ० ए० में पढ़ता है। किन्तु जो व्यक्ति इतने आदमियों के बीच में ऐसी निर्लज्जता दिखा सकता है, वह क्या मित्र बनाने के लायक है? नहीं, हर्गिज नहीं। फिर, भोला ने उसके साथ मित्रता क्यों की है? उस युवक का पिता बाबू सिद्धनाथ का मित्र है, इसलिये भोला के साथ उसकी मित्रता हो जाना स्वाभाविक ही है। हाँ, यही बात है। पूर्णिमा ने उस युवक के साथ अन्यमनस्कता से ही व्यवहार किया था। ताँगे पर जब वे तीनों सवार हो चुके थे, तो उसके नमस्कार का उत्तर न देकर पूर्णिमा मुख फेर कर दूसरी ओर देखने लगी थी। कितनी समझदार लड़की है पूर्णिमा! कितनी भोली-भाली, कितनी सुशील, कितनी स्वरूपवती! फिल्म अधूरा छोड़ कर घर लौटने का अनुरोध उसने भोला से क्यों किया था? फिल्म रद्दी अवश्य था, किन्तु उसने तो बीमारी का बहाना किया था। उसका चेहरा अवश्य लाल हो गया था, किन्तु वह बीमार तो नहीं जान पड़ती थी। फिर और क्या कारण हो सकता है? सोहनलाल? कदाचित् वही कारण था। पूर्णिमा के उस क्रोध का कारण वह फिल्म न था, अवश्य सोहनलाल था। उसने अवश्य अनुचित व्यवहार किया होगा। अनुचित व्यवहार तो वह शुरू से ही कर रहा था। कितना खराब सख्श है वह! उसके व्यवहार में, भाव-भंगी में, वाक्यों में कितनी कृत्रिमता थी। ऐसे व्यक्ति को लोग सुशिक्षित कहते हैं, सभ्य कहते हैं। किन्तु वास्तव में क्या वह सुशिक्षित है, सभ्य है? जाने दो उसकी बात। ऐसे व्यक्ति के विषय में माथापच्ची करने से क्या लाभ हो सकता है?

सवार बदमाशों के अड्डे में पहुँच गया। उसका यथोचित स्वागत हुआ। उसे देख कर सरदार की लड़की अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसकी आँखों का भाव कैसा विचित्र था! पूर्णिमा की आँखों में भी तो उसे कई बार वही भाव दिखाई दिया था? हाँ, वही भाव था! ड्राइंग-रूम प्रकाश से

जगमगा रहा था। बाबू सिद्धनाथ ग्रामोफ़ोन बजा रहे थे। उनके पैरों के समीप पूर्णिमा बैठी हुई थी। सामने एक सोफ़े पर वह भोला के साथ बैठा हुआ था। सहसा उसने देखा, पूर्णिमा उसकी ओर देख रही थी। उसकी उन बड़ी-बड़ी आँखों का भाव विचित्र था! हाँ, वही...भाव... तो था!

जाह्नवी के उस तट पर डोंगी लगी हुई थी। थोड़ी देर की अचेतना के बाद दुर्गा ने आँखें खोली थीं। उसके समीप बैठी हुई पूर्णिमा उसकी ओर देख रही थी। उसकी आँखों का भाव विचित्र था! हाँ, वही भाव तो था जो सरदार की लड़की की आँखों में दिखाई दिया था!

रात के दस बज चुके थे। भोला के कमरे में पलंग पर पड़ा हुआ दुर्गा करवटें ले रहा था। दिन की उस दुर्घटना के कारण उसके शरीर में जो कमजोरी आ गई थी, वह करीब-करीब दूर हो चुकी थी। वह विचारों में तल्लीन था। सहसा कमरे में पूर्णिमा ने प्रवेश किया। उसके हाथ में शीशे का एक छोटा गिलास था। गिलास में टानिक था। पूर्णिमा के बहुत आग्रह करने पर उसने टानिक पी लिया था। खिड़की के समीप खड़ा हुआ वह जूठा गिलास धो रहा था। सहसा उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो पूर्णिमा उसकी ओर देख रही हो। हाँ, उसने देखा, वह उसकी ओर देख रही थी। उसकी आँखों का भाव विचित्र था। जब तक वह उसके सामने रही, उसकी आँखों में वही भाव बना रहा। और...वह भाव... वही था।

दुर्गा के आन्दोलित हृदय में एक हूक-सी पैदा हो गई। पहेली हल हो गई। वह मधुर जानकारी चारों ओर से उसे घेरने लगी। वही उसके सिर पर भारी बोझ की तरह लद गई। वही उसके अन्तस्तल में घुस कर अट्टहास करने लगी। दुर्गा सिहर उठा। पलंग से उतर कर वह आराम-

कुरसी पर बैठ गया और खिड़की की ओर ताकने लगा। खुली हुई खिड़की से निर्मल, सुनील आकाश का एक छोटा-सा टुकड़ा दृष्टिगोचर हो रहा था। उस मखमली टुकड़े में टँके हुए तारे मंद-मंद मुस्करा रहे थे। उस स्वर्गीय मुस्कान में निहित आशा की ज्योति-रेखाएँ दुर्गा के तिमिराच्छादित हृदय को आलोकित करने लगीं। उसके होंठों पर मुस्कान व्यक्त हो गई। मायाविनी कल्पना स्वप्नों का स्वर्ण-जाल बुनने लगी। अन्तरतल के किसी अज्ञात कोने में छिपी हुई महत्वाकांक्षाएँ बाहर निकल कर सुविस्तृत स्वप्न-लोक में घुस कर एक भव्य भवन का निर्माण करने लगीं। उस भवन की अनुपम शोभा देख कर, दुर्गा आश्चर्य से चकित हो गया। किन्तु उसका वह आश्चर्य अत्यधिक बढ़ गया, जब उस विशाल भवन के एक सुन्दर बारजे पर खड़ी हुई पूर्णिमा दृष्टिगोचर हुई! बहुमूल्य वस्त्र-अभूषणों से सजी हुई उस प्रतिमा की शोभा अवर्णनीय थी। और वह उसकी ओर देख रही थी! उसकी बड़ी-बड़ी आँखों का भाव विचित्र था! हाँ, वही...भाव था...

१५

मध्याह्न का समय था। अपने कमरे में मेज के सामने एक कुरसी पर दुर्गा बैठा हुआ था। सामने भूगोल की एक पुस्तक खुली हुई थी और ग्रेट-ब्रिटेन का एक नक्शा। आध घण्टे से साउतम्पटन नामक बन्दरगाह पर उसकी दृष्टि जमी हुई थी। आँखें आगे बढ़ने से इनकार कर रही थीं। क्यों? कदाचित् इसलिये कि उस स्थान के महत्व के विषय में अभी वह यथोचित जानकारी प्राप्त न कर पाया था। क्या उसकी स्मरण-शक्ति निर्बल थी? नहीं, जो अपनी योग्यता के कारण पाठशाला में यथोचित सम्मान पा चुका हो, उसकी स्मरण-शक्ति तो कदाचित् निर्बल नहीं हो सकती! बात यह थी कि न जाने किस जादू से सामने खुली हुई पुस्तक की जड़ पंक्तियाँ सजीव होकर, उठ कर नाचने लगी थीं, फिर वे एक विचित्र शून्य के वक्ष में विलीन हो गई थीं। और दो-तीन क्षणों के पश्चात् उसी शून्य के वक्ष से निकल कर एक सुसज्जित ड्राइंग-रूम सामने आ गया था। ड्राइंग-रूम में मन्द विद्युत प्रकाश फैला हुआ था। एक सोफ़े पर एक नवयुवती और दो नवयुवक आसीन थे। उनके सामने

एक छोटी मेज पर एक अलबम खुला हुआ था। उस नवयुवती के दिखलाये हुये एक चित्र की ओर एकटक देख रहा था वह गौरांग नवयुवक, जिसकी वेश-भूषा उस वातावरण से मेल न खाती थी। वह नवयुवक कौन था, यह कहने की आवश्यकता नहीं।...

कमरे में सहसा किसी ने प्रवेश किया। खिड़की से दृष्टि हटा कर दुर्गा ने देखा, मेज के समीप खड़ी हुई पूर्णिमा उसकी ओर देख रही थी। वह झिझक कर, ग्रेट-ब्रिटेन के उस नक्शे की ओर देखने लगा।

"आपको इस समय फुर्सत है?"

"फुर्सत?"—पूर्णिमा के चेहरे की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देख कर दुर्गा बोला—"अब तो हर समय फुर्सत है। तुम आज स्कूल नहीं गईं?"

"तबीयत कुछ खराब थी, इसीलिये नहीं गई। जरा मुझे पढ़ा दीजियेगा?"

"क्या है?"

"अँगरेजी की रीडर है।" पूर्णिमा ने पुस्तक खोल कर दुर्गा के सामने रख दी—"नोट भी लेती आई हूँ।"

एक कविता थी। उसका शीर्षक था "कैसाब्याँका"। दुर्गा उसे ध्यान से पढ़ने लगा।

कैसाब्याँका एक होनहार बालक था। उसका पिता एक जंगी जहाज का कप्तान था। वह होनहार बालक अपने पिता के जहाज पर काम करता था। युद्ध हो रहा था। पिता की आज्ञानुसार कैसाब्याँका जहाज के डेक पर खड़ा हुआ था। उसके पिता कह गये थे कि बिना मेरी आज्ञा के यहाँ से न हटना। सहसा जहाज में आग लग गई। चारों ओर अग्नि की लपटें उठने लगीं। "पिताजी! क्या यहीं खड़ा रहूँ?" कोई

उत्तर न मिला। बालक स्थिर, गम्भीर खड़ा रहा। लपटें उसके पैरों के समीप आ गईं। "पिताजी ! क्या यहीं खड़ा रहूँ ?" उसने फिर आवाज लगाई, किन्तु उत्तर न मिला। उस बेचारे को इस बात का पता न था कि पिता तो युद्ध में वीर-गति प्राप्त कर चुके हैं। सब लोग चले गये थे, परन्तु वह निश्चल खड़ा था। अब उसका शरीर जलने लगा। बार-बार वह आवाज लगाने लगा। अग्नि-शिखाओं के अट्टहास में उसका कण्ठ-स्वर लोप हो गया। जलते हुये स्तम्भ की भाँति वह डेक पर गिर पड़ा।

"बहुत अच्छी कविता है। इसे पढ़ चुका हूँ।"

"तो इसे मुझे पढ़ा दीजिये।"

तब नवयुवक शिक्षक महोदय, अपनी सम्पूर्ण योग्यता खर्च कर उस ओजपूर्ण दुखान्त कविता की एक-एक पंक्ति का अर्थ समझाने लगे। एकाग्रचित्त होकर पूर्णिमा समझने की चेष्टा करने लगी। वह कविता का भावार्थ अवश्य समझ रही थी, किन्तु उसके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें सुन रही थी, समझ रही थी। उन बातों का उस कविता से सम्बन्ध था ? कदाचित् न था। कदाचित् उन अनोखी बातों का सम्बन्ध पाठ से नहीं, शिक्षक महोदय से था।

पाठ समाप्त हो गया। शिक्षक महोदय निस्तब्ध हो गये। कई क्षण निस्तब्ध रह कर पूर्णिमा ने कहा—"कैसाब्याँका बड़ा बहादुर लड़का था !"

"हाँ, वह बड़ा बहादुर था।"

"लेकिन उसने गलती की।"

दुर्गा ने उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा।

"उसे आग से बचने की कोशिश करनी चाहिये थी।"

"कोशिश तो उसने पूरी की थी।"

"पिता से उसे आज्ञा नहीं मिल सकी, तो स्वयं उस स्थान से हट कर उसने अपने प्राण क्यों नहीं बचाये ?"

"यही न करने में तो उसने बहादुरी दिखलाई थी। अपने तुच्छ प्राण से अधिक उसे अपना धर्म प्रिय था।"

पूर्णिमा क्या यह न जानती थी ? जानती थी, वीर कैसाब्यांका के अपूर्व आत्म-बलिदान के महत्व को वह अपने ढंग से भली-भाँति समझती थी। किन्तु उसके हाड़-माँस के उस पुतले में जो नारी-हृदय था, उसी की अगाध करुणा ने शंका की थी। वह करुणा तो चाहती थी कि अतीत के सैकड़ों वर्ष पार कर समुद्र पर जलते हुये उस जहाज पर पहुँच जाती, और कैसाब्यांका के जलते हुए शरीर को किसी सुरक्षित स्थान में ले जा कर कोई ऐसा उपाय करती कि वह फिर भला-चंगा हो जाता। किन्तु शिक्षा देने की धुन में मस्त शिक्षक नारी-हृदय का यह भेद न समझ सका।

अपने हृदय के इस भेद को, पावन दुर्बलता को, शब्दों में परिणत करने की क्षमता अपने में न पाकर, पूर्णिमा निस्तब्ध बैठी रही। किन्तु उसका मन जहाँ एक ओर उस वीर बालक की प्रशंसा कर रहा था, वहीं उसके लिये दुखी भी था।

दुर्गा ने पूर्णिमा के चेहरे की ओर देखा, किन्तु उसके उस भाव का मर्म न समझ सका। सिर झुका कर वह भूगोल की ओर शंकित दृष्टि से ताकने लगा।

पूर्णिमा उठ खड़ी हुई।

"अच्छा, अब मैं जाती हूँ। आपका वक्त खराब हो रहा है।"

"वक्त तो कुछ खराब नहीं हुआ। मुझे भी फ़ायदा ही हुआ।"

"आपको क्या फ़ायदा हुआ ?

"ऐसे वीर की कथा पढ़ कर हर शख्स को कुछ-न-कुछ फ़ायदा अवश्य होगा।"

"हाँ, यह तो ठीक है, लेकिन आप तो यह कविता पढ़ चुके थे!"

"पढ़ तो चुका था, लेकिन भूल भी गया था। ऐसी चीज़ जितनी बार पढ़ी जाय, उतना ही अधिक लाभ हो सकता है।"

पूर्णिमा फिर कुरसी पर बैठ गई।

"आप प्राइवेट इम्तहान देंगे?"

"हाँ, इरादा तो है। लेकिन..."

पूर्णिमा उसके मुख की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखने लगी।

"मैं यह सोचता हूँ कि मुझे पढ़ने के अलावा कोई और काम भी करना चाहिये।"

"और क्या काम कीजियेगा?"

"कहीं नौकरी कर लूँगा।"

"यह क्यों?"

"अपनी पढ़ाई के लिये।"

"नौकरी करने से तो आपके पढ़ने में हर्ज होगा।"

"नहीं, कुछ ज्यादा हर्ज तो न होगा।"

"फिर भी कुछ-न-कुछ हर्ज तो ज़रूर होगा। आप यहीं बराबर रहिये, आपकी पढ़ाई में जो कुछ खर्च होगा, पापा देंगे।"

"लेकिन, यहाँ...बराबर रहना क्या उचित है?"

"उचित क्यों नहीं है? हम लोगों को क्या आप गैर समझते हैं।"

"नहीं गैर तो नहीं समझता, लेकिन हर आदमी को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये।"

"आप ठीक कहते हैं। लेकिन...जिन लोगों को आप गैर नहीं समझते, अपना समझते हैं, उनसे मदद लेना तो अपमान की बात नहीं है।"

दुर्गा कोई उत्तर न दे सका, निस्तब्ध बैठा रहा।

"मैंने क्या गलत बात कही?"

"नहीं, तुमने बिलकुल ठीक कहा।"

"फिर आप चुप क्यों हो गये? आप शायद अभी तक वही बात सोच रहे हैं।"

दुर्गा ने कोई उत्तर न दिया। वह मुस्कराता हुआ बैठा रहा।

"आप अगर हम लोगों को गैर समझते हों तो समझें, लेकिन हम लोग तो आपको गैर नहीं समझते।"

"गैर समझता, तो मैं यहाँ आकर रहता ही क्यों?"

"कुछ दिन तो आदमी गैर के घर भी रह लेता है।"

"नहीं, तुम्हारा ख्याल गलत है। मैं तुम लोगों को गैर नहीं समझता। सच तो यह है कि इसीलिये मैं यहाँ रहना नहीं चाहता।"

"इसीलिये आप यहाँ रहना नहीं चाहते?" प्रश्न-सूचक दृष्टि से दुर्गा के मुख की ओर देखते हुये पूर्णिमा ने कहा।

दुर्गा की आँखों ने पूर्णिमा की आँखों को उत्तर दे दिया। पूर्णिमा के मुख-मण्डल पर लालिमा दौड़ गई। वह फ़र्श की ओर ताकने लगी।

असीम विवशता-भरी दृष्टि से दुर्गा नक्शे की ओर देखने लगा।

एक दीर्घ निःश्वास खींच कर, उठ कर पूर्णिमा धीरे-धीरे कमरे के बाहर निकल गई। दोनों हाथों को मेज पर टेक कर दुर्गा ने उनमें मुख

छिपा लिया। खिड़की के उस पार वृष्टि हाहाकार कर रही थी। दुर्गा के अन्तस्तल में भी हाहाकार हो रहा था।...

शाम के सात बज चुके थे। भोला ड्राइंग रूम में अकेला बैठा हुआ एक पुस्तक पढ़ रहा था। दुर्गा पुजारीजी से मिलने चला गया था, इसलिये वह अकेला था। सहसा सोहनलाल ने मुस्कराते हुए कमरे में प्रवेश किया।

"आदाब-अर्ज है, बाबू भोलानाथ !"

"आदाब-अर्ज ! आइये जनाब, मैं बड़ी देर से आपका इन्तजार कर रहा था।"

"माफ कीजिए, मुझे कुछ देर हो गई। बात यह हुई कि मैं जैसे ही आने के लिये तैयार हुआ उसी वक्त एक साहब मुझसे मिलने के लिये आ गये। जब वह किसी तरह खिसके, तो मैं भी रवाना हुआ। और सब लोग कहाँ हैं ?"

"पापा कहीं गए हैं, मा अन्दर हैं।"

"और पूर्णिमा देवी कहाँ हैं ?"

"उसकी तबीयत कुछ खराब है, अपने कमरे में है।"

"तबीयत खराब है ! क्या शिकायत है ?"

"उसके सिर में दर्द है।"

"कल आप लोग इतनी जल्दी क्यों चले आये ? फ़िल्म पूरा देखना था।"

"बात यह हुई कि पूनो को चक्कर आ गया।"

सोहनलाल का चेहरा उतर गया। वह फ़र्श की ओर ताकने लगा।

दो तीन क्षण निस्तब्ध रह कर उसने मुस्कराते हुए कहा—"लेकिन फ़िल्म बड़ा अच्छा है। कल तक दिखलाया जायगा।"

"हम लोगों को तो पसन्द नहीं आया, जनाब।"

"हाँ, बहुत लोगों को पसन्द नहीं आया। अच्छा, यह बतलाइए कि इस वक्त आप क्या कर रहे हैं?"

"इस वक्त तो कोई खास काम नहीं है।"

"चलिए, कहीं घूमने चलें?"

"घूमने चलें? कहाँ चलिएगा?"

"किसी तरफ चले चलेंगे।"

"अच्छी बात है। आप बैठिए, मैं कपड़े पहिन आऊँ।"

"हाँ, तैयार हो आइए। मैं बैठा हूँ।"

भोला उठ कर कमरे के बाहर निकल गया। पुस्तक उठा कर सोहन लाल उसे उलटने-पलटने लगा। दो-तीन क्षण के बाद वह उठ खड़ा हुआ, ड्राइंग-रूम से बाहर निकला। रुक कर, कुछ सोच कर वह धीरे-धीरे जनानखाने की ओर बढ़ा।

पूर्णिमा के कमरे के सामने पहुँच कर उसने बन्द दरवाजे पर थपकियाँ दीं। कोई उत्तर न मिला। उसने फिर थपकियाँ दीं। सिटकिनी के उतरने की आवाज हुई, फिर दरवाजा खुल गया।

"कौन है?"

"नमस्कार!"

"आप हैं? कहिये?"

"भोला भाई से मालूम हुआ कि आपकी तबीयत अच्छी नहीं है, इसलिए मैंने सोचा कि जरा मिल कर..."

"वाह ! आपको मेरा इतना ख्याल है। शुक्रिया ! आपको बड़ी तकलीफ हुई ! अच्छा, नमस्कार !"

"आप मुझसे इस कदर नाराज क्यों हैं ?"

"नहीं, आपसे बिलकुल नाराज नहीं हूँ। आपने क्या बदसलूकी की है ? नहीं, साहब, मैं आपसे बहुत खुश हूँ। लेकिन एक बात है, आपसे बातें करने के लिये मुझे फुर्सत नहीं हैं।"

"तब तो आप जरूर नाराज हैं।"

"बस, आप यही समझ लीजिये।"

जेब से निकाल कर एक गुलाबी रंग का लिफाफा पूर्णिमा के सामने फेंक कर सोहनलाल शीघ्रता से बाहर चला गया।

पूर्णिमा ने कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया और कुरसी पर जा बैठी। कैसा छंटा बदमाश है ! यह सीनाजोरी ! इस वक्त कोई बुरी हरकत करता, तो मजा मिलता बच्चू को ! बेशर्मी की हद हो गई !

"म्याऊँ-म्याउँ।" उस ओर बच्चों के समीप बैठी हुई रानी उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देख रही थी।

किन्तु पूर्णिमा ने उसकी ओर ध्यान न दिया। गम्भीरता से वह फ़र्श की ओर ताकती रही। उस दिन सिनेमा न जाती, तो उस बेहूदे से क्यों भेंट होती ? पहले भी जब-जब उससे मुलाकात हुई थी, तब-तब उसने वैसी ही बेहयाई का परिचय दिया था। चेहरे और आँखों में मन का भाव साफ़-साफ़ लिखा रहता है। जाने दो उसकी बात।..लिफाफे में क्या है ?

उठ कर, दरवाजे के समीप जा कर, उसने फ़र्श पर पड़ा हुआ लिफाफा उठा लिया। फिर वह कुरसी पर जा बैठी। उसने लिफाफा खोला। उसमें एक पत्र था। पत्र खोल कर, वह पढ़ने लगी—

"सरकार ! किसी का दिल चुरा कर, उसे इस तरह तंग करना क्या मुनासिब है ? लेकिन आपका कोई कसूर नहीं । माशूकों का यही तरीका है । खैर, मैं एक बात साफ-साफ कह देना चाहता हूँ । आप मुझसे चाहे जितना भागें, मैं आपका पीछा हर्गिज न छोड़ूँगा । हर वक्त मैं आपके लिए तड़पता रहता हूँ । जब कभी आपको देख लेता हूँ, तो थोड़ी देर के लिए तकलीफ़ कम हो जाती है । कल खुशकिस्मती से पैलेस में आप लोगों से मुलाकात हो गई थी । उम्मीद हुई थी कि कुछ देर तो साथ रहेगा, लेकिन मेरी बदकिस्मती ने फिर मेरी उम्मीद पर पानी फेर दिया ! आप लोग जल्द ही उठ कर चले गए । ऐसा आपने क्यों किया ? लेकिन यह आपका नहीं, मेरी बदनसीबी का काम था । आपके बगैर मैं जिन्दा नहीं रह सकता । अगर अब आप मेरे ऊपर इनायत न करेंगी, तो यकीन कीजिए, कुछ खा कर सो रहूँगा । कल मैं फिर आऊँगा और आपसे आपका जवाब मागूँगा । आपके जवाब ही पर मेरी जिन्दगी का दारो-मदार है, यह ख्याल रहे !

आपका,

सोहनलाल ।"

पत्र पढ़ कर पूर्णिमा ने उसे मेज पर फेंक दिया । उसका चेहरा क्रोध से लाल हो गया । कैसी बनावटी बातें हैं ! कुछ खा के सो रहेगा ! आत्महत्या करनेवाले ऐसे ही होते हैं ! उसके हृदय में घृणा जोर मारने लगी । आवेश में आकर, मेज से पत्र उठा कर, फाड़ कर, टुकड़े-टुकड़े कर उसने फ़र्श पर फेंक दिया ।

"म्याऊँ-म्याऊँ ! म्याऊँ-म्याऊँ !" कागज के उन टुकड़ों को देख कर, रानी पूर्णिमा के समीप गई । दो-तीन क्षण तक वह उन टुकड़ों की ओर देखती रही, फिर पूर्णिमा के चेहरे की ओर ताकने लगी ।

सोहनलाल क्या चला गया होगा ! शायद अभी बाहर मौजूद हो। उसे उसका खत वापस कर देना चाहिये। वह देख ले कि मैं उसकी बनावटी बातों को खूब समझती हूँ। पापा से सारी बातें कह दूँ, तो वह हजरत का मिजाज ठिकाने लगा दें ! लेकिन नहीं, अभी कहने की कोई जरूरत नहीं है। अगर आसानी से वह यह हरकतें छोड़ दे, तो बात बढ़ाने की क्या जरूरत है ? फ़र्श पर बैठ कर, वह पत्र के टुकड़े बीनने लगी।

"म्याऊँ-म्याऊँ ! म्याऊँ-म्याऊँ !" रानी पूर्णिमा की पीठ पर अपनी गर्दन रगड़ने लगी।

"हटो रानी, इस वक्त तंग मत करो !"

टुकड़े बीन कर, उठ कर, टुकड़ों को लिफाफे में रख कर पूर्णिमा कमरे से बाहर निकली।

उसने ड्राइंग-रूम में जा कर देखा, वहाँ कोई न था। चला गया। हाँ, जरूर चला गया। शायद बाहर दादा के कमरे में हो। हाँ, देख लेना चाहिये। दादा के सामने उससे कैसे बातें करूँगी ? नहीं, इसमें शर्म की कोई बात नहीं। उनके सामने ही उसे खत देकर, खूब फट-कारूँगी ! दादा को भी मालूम हो जायगा, वह कैसा आदमी है। दादा को भी इससे फायदा होगा। वह बच जायँगे, नहीं तो वह शोहदा उन्हें भी खराब कर देगा।

बाहर सायबान में जाकर उसने देखा उजागिर एक दीवार के सहारे बैठा हुआ ऊँघ रहा है।

"उजागिर !"

चौंक कर, आँखें खोल कर, पूर्णिमा को देख कर उठ कर, उजागिर ने पूछा—"क्या है, बिटिया ?"

"दादा कहाँ हैं, उजागिर !"

"भैया सोहनलाल बाबू के साथ कहीं गये हैं।"

"उन्हें गये कितनी देर हुई ?"

"अभी तो गये हैं, थोड़ी देर हुई।"

पूर्णिमा कुछ देर तक खड़ी हुई कुछ सोचती रही, फिर अपने कमरे की ओर चली। जाने दो, कल तो फिर आयेगा। कल उसे खत लौटा दूँगी, और उसे बतला दूँगी कि फिर कभी मुझे छेड़ेगा तो उसके लिये अच्छा न होगा। उसने मुझे क्या समझ लिया है ?

अपने कमरे में पहुँच कर, उसने वह लिफाफा मेज की दराज़ में बन्द कर दिया। फिर एक दीर्घ निःश्वास खींचकर वह कुरसी पर बैठ गई।

१६

दस बज चुके थे। दुर्गा अपने कमरे में एक आरामकुरसी पर बैठा हुआ भोला की प्रतीक्षा कर रहा था। भोला अभी तक नहीं आया ? क्यों नहीं आया, वहाँ क्या कर रहा है ? सोहनलाल के साथ वह क्यों गया ? उसे उसके साथ न जाना चाहिये था। भोला जानता है कि सोहनलाल अच्छा आदमी नहीं है, फिर उसके साथ रह कर क्या फ़ायदा उठाने की आशा है ? सोहनलाल भोला को भी खराब कर देगा, जरूर खराब कर देगा ! भोला ने बड़ी गलती की !

सहसा पूर्णिमा ने कमरे में प्रवेश किया। चकित होकर दुर्गा उसके चेहरे की ओर देखने लगा। एक कुरसी खींच कर पूर्णिमा बैठ गई।

"अभी तक आप सोये नहीं ?"

"नहीं, अभी नींद नहीं मालूम हो रही है। भोला अभी तक नहीं आये ?"

"नहीं, अभी तो नहीं आये। सोहनलाल के साथ गये हैं, वह जब छुट्टी देगा तब आयेंगे !"

"सोहनलाल के साथ भोला क्यों गये ? वह तो अच्छा आदमी नहीं है ?"

"अच्छा आदमी नहीं है ? नहीं, वह पूरा शोहदा है ! यह जानते हुए भी दादा उसके चक्कर में पड़ जाते हैं, यह तो बड़े अफसोस की बात है !"

"हाँ, अफसोस की बात है !"

"यह देखिये, सोहनलाल की करतूत !" आँचल के नीचे से हाथ निकाल कर पूर्णिमा ने वह लिफाफा दुर्गा की ओर बढ़ाया।

"यह क्या है ?" दुर्गा ने लिफाफा ले लिया।

"खोल कर देखिये।"

लिफाफा खोल कर दुर्गा ने पत्र के टुकड़े हाथ में निकाल लिये।

"यहाँ मेज पर रख कर पढ़िये।"

मेज के समीप जाकर, टुकड़े सामने रख कर, दुर्गा उन्हें जोड़ने की कोशिश करने लगा। पूर्णिमा उसकी सहायता करने लगी।

किसी तरह थोड़ी देर में टुकड़े जुड़ जये। दुर्गा पत्र पढ़ने लगा। दो-तीन पंक्तियाँ पढ़ने के बाद ही उसका चेहरा क्रोध से लाल हो गया, आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

"बड़ा बेहूदा शख्स है !" पत्र पढ़ कर दुर्गा ने कहा।

"बेहूदा ही नहीं है, पक्का बदमाश है, शोहदा है !"

"कल पहली बार उसे देख कर मैं समझ गया था कि वह कैसा आदमी है।"

"हाँ, मैंने देखा था कि उसे देख कर आप खुश नहीं हुए !"

"ऐसे आदमी को कभी घर में न आने देना चाहिये !"

"आप ठीक कहते हैं! अच्छा, अब बतलाइये कि क्या करूँ? उसे क्या जवाब देना चाहिये?"

"मेरे ख्याल से उसे जवाब तो कुछ देना चाहिये!"

"कल वह फिर आवेगा, तो क्या करूँगी? मैं तो सोचती हूँ कि वह खत पापा को दिखला दूँ?"

"नहीं, अभी इसे पापा को दिखलाना तो ठीक नहीं मालूम होता। पहले उसे समझा कर रोकने की कोशिश करना चाहिये। अगर वह समझाने से न माने तब पापा से कहना ठीक होगा।"

"हाँ, आप ठीक कहते हैं, अभी पापा से कहने की जरूरत नहीं है। कल वह फिर आवेगा। एक बार उसे समझा कर देख लूँ!" पत्र के टुकड़े उठा कर पूर्णिमा लिफाफे में बन्द करने लगी।

"यह शख्स बहुत दिनों से मुझे परेशान कर रहा है! कल रात को पैलेस थियेटर में यह मेरे बगल में आ बैठा। फिर उसने बड़ी खराब हरकत की, मुझे दादा से बीमारी का बहाना करना पड़ा। तब उससे किसी तरह मेरा पिंड छूटा!"

"मेरा भी यही ख्याल था कि तुमने उसीके कारण तुरन्त घर लौटने की इच्छा प्रकट की थी।"

"हाँ, यही बात थी। क्या करती, कोई दूसरा उपाय न था!"

लिफाफा हाथ में लिये, पूर्णिमा कई क्षणों तक निस्तब्ध बैठी रही। फिर वह उठ खड़ी हुई और दरवाजे की ओर बढ़ी। दरवाजे के समीप पहुँच कर, रुक कर वह कुछ सोचने लगी। दुर्गा उसकी ओर मंत्र-मुग्ध दृष्टि से देख रहा था।

सलूके की जेब से कुछ निकाल कर, घूम कर, पूर्णिमा दुर्गा की ओर

चली। कौतूहलपूर्ण आँखों से एक बार उसकी ओर देख कर, सिर झुका कर, दुर्गा फ़र्श की ओर ताकने लगा। दुर्गा के समीप जाकर, रुक कर, पूर्णिमा ने उसकी ओर अपना दाहिना हाथ बढ़ाया। उस सुकोमल हाथ में सफ़ेद रंग का एक लिफ़ाफ़ा था। चकित होकर दुर्गा लिफ़ाफ़े की ओर देखने लगा।

"यह आप ही के लिए है, ले लीजिए।"

दुर्गा ने सकुचाते हुये लिफ़ाफ़ा ले लिया। पूर्णिमा मुड़ कर, शीघ्रता से कमरे के बाहर निकल गई। दुर्गा का हृदय वेग से धड़कने लगा। काँपते हुये हाथों से उसने लिफ़ाफ़ा खोला। लिफ़ाफ़े में दस-दस के दो नोट थे और एक पत्र था। नोटों को लिफ़ाफ़े में रख कर दुर्गा पत्र पढ़ने लगा। पत्र में लिखा था—

" ....

"आज मुझे मालूम हुआ कि आपको कुछ रुपयों की जरूरत है। इसलिये इस पत्र के साथ दस रुपयों के दो नोट लिफ़ाफ़े में रखे देती हूँ। इन रुपये से आप अपना काम चलाइये।

"दिन में मैं आपसे कह चुकी हूँ और इस समय भी कहना चाहती हूँ कि नौकरी करने का ख्याल आप छोड़ दीजिये। नौकरी करना किसी तरह मुनासिब नहीं है। अभी पढ़ने का समय है, निश्चिन्त होकर पढ़िये। आपकी पढ़ाई में जो कुछ खर्च पड़ेगा, वह पापा देंगे। पापा के रुपये लेना आप पसन्द न करेंगे, तो मैं खुद आपकी सहायता करूँगी! कैसे आपकी सहायता करूँगी, यह मैं नहीं जानती! किन्तु एक बात जानती हूँ, आपकी सहायता अवश्य करूँगी! मुझसे सहायता लेने में भी आपको आपत्ति होगी? हो भी, तो मैं न मानूँगी।

"एक बात और है। यहीं रह कर आपको पढ़ना होगा। आपको

इसमें चाहे असुविधा हो, लेकिन आपको ऐसा अवश्य करना होगा। इसमें मेरा स्वार्थ है। आपसे पढ़ूँगी, और...

"आपसे हाथ जोड़ कर विनती करती हूँ, मेरी बात अवश्य मान लीजिये। मेरा अनुरोध स्वीकार न कीजियेगा, तो आपको पछताना पड़ेगा। यह मैंने क्यों लिखा? इसलिये कि मुझे डर है कि किसी दिन हम लोगों की नज़र बचा कर, चुपके से आप चले न जायें। मैं जानती हूँ, आप भावुक हैं, जिद्दी हैं। देखिये चौंकिये न। मैं फिर कहती हूँ, आप भावुक हैं, जिद्दी हैं! 'जिद्दी'—हाँ यह शब्द सख्त है! इसे मैंने क्यों इस्तेमाल किया? मैं नहीं जानती! जानने की कोशिश करना भी कदाचित् ठीक नहीं है, किन्तु जानने की कोशिश किये बिना भी, न जाने कैसे वह कारण एकाएक मस्तिष्क में आ पहुँचा! हाँ, मैं जानती हूँ! कदाचित् आप भी जानते हैं? आप अगर नहीं जानते, तो शीघ्र ही आप जान जायेंगे! हाँ, इसी सम्बन्ध में एक बात यहाँ कह देना चाहती हूँ, किन्तु न जाने ठीक-ठीक कह सकूँगी या नहीं। जिस किसीसे आप नाता जोड़ियेगा, वह आपके ऊपर अधिकार अवश्य जमा लेगा। यही अधिकार मुझे भी प्राप्त है। हाँ, आपसे यह अधिकार मुझे नहीं मिला। कदाचित् मुझे यह उनसे मिला है, जो घट-घट में निवास करते हैं, जो हमारी आँखों से लुक-छिप कर हम लोगों की देख-रेख करते हैं।

"यह सब क्यों लिख गई? इसका कारण भी कदाचित् आपको ऊपर की पंक्तियों में मिल जायगा!

—पूर्णिमा।"

पत्र पढ़ कर दुर्गा मुस्कराने लगा, किन्तु एक क्षण के बाद ही मुस्कान उसके चेहरे से अदृश्य हो गई। गम्भीर होकर, पत्र उसने लिफाफे

में बन्द किया, फिर लिफाफा कुरते की जेब में डाल लिया। कैसी विचित्र लड़की है पूर्णिमा! कैसी विचित्र बातें उसने पत्र में लिखी हैं! उसके एक-एक शब्द से बुद्धिमानी टपकी पड़ती है! नौकरी करने से वह क्यों इतना रोक रही है? शायद इसलिये कि वह करुणा की साकार प्रतिमा है! यही बात है, और क्या बात हो सकती है? हाँ...वह...ओफ! दोनों हाथों को सीने पर कस कर, बाँध कर, दुर्गा फ़र्श की ओर एकटक ताकने लगा। अकथनीय वेदना की छाया उसके मुख-मण्डल पर व्यक्त हो गई।

क्या यहीं रहना ठीक है? यहाँ रहना तो ठीक नहीं मालूम होता। किन्तु पूर्णिमा की बात टालना क्या ठीक है? उसने लिखा है कि उसे मेरे ऊपर अधिकार है। यह अधिकार की बात क्या ठीक है? कदाचित् ठीक है! हाँ, ठीक है! क्या सचमुच मैं भावुक हूँ, ज़िद्दी हूँ? हाँ, हूँ—अवश्य हूँ! भावुक न होता, ज़िद्दी न होता, यों क्या घर छोड़ देना पड़ता, उस पगली मा से बिछुड़ना पड़ता? मा! मा! ओफ! उसकी आँखों में आँसू छलक आये।

किन्तु घर छोड़ना क्या बुरा हुआ? नहीं, नहीं, बुरा नहीं हुआ। घर न छोड़ता, तो यहाँ कैसे आकर रहता, इन लोगों से घनिष्ठता कैसे बढ़ती...पूर्णिमा को यह अधिकार कैसे प्राप्त होता? कैसी भोली-भाली लड़की है पूर्णिमा! लिफाफे में रुपये भी रख दिये हैं। रुपयों के रखने की क्या जरूरत थी? किन्तु रुपयों की क्या उसे जरूरत न थी? थी तो, लेकिन रुपये उसने माँगे तो न थे? नौकरी की बात यों ही छिड़ गई थी। न माँगने पर भी उसने रुपये दिये हैं। कैसी दूरदर्शिता है! कहती है कि बराबर मेरी सहायता करेगी। क्या यह सम्भव है? हाँ, सम्भव है! सर्वथा सम्भव है! किन्तु बराबर उससे सहायता लेना उचित है? नहीं, नहीं...! जाने दो इस बात को। इस खेल का अन्त क्या

होगा ? न जाने क्या होगा ? जिसे निरन्तर यातनायें मिलती आई हों, जो सुख का अधिकारी नहीं, उसे क्या अधिकार है कि दूसरों का बना-बनाया खेल बिगाड़ दे, उनके सुख में बाधा डाले ?

१७

उस समय सोहनलाल और भोलानाथ पार्क्स रेस्तराँ में एक छोटी मेज के सामने बैठे थे। मेज पर ह्विस्की का एक अद्धा था, सोडे की बोतल थी, शीशे के दो छोटे गिलास थे, आमलेट, चाप और कटलेट से भरी हुई प्लेटें थीं। काँटे थे, छुरियाँ थीं, और थी व्यंजनों की सूची। दोनों के चेहरों पर नशे की लालिमा व्यक्त थी।

बोतल उठा कर, खोल कर, सोहनलाल भोलानाथ के गिलास में शराब उँडेलने लगा।

"रहने दो सोहन भाई। तुम जानते हो, पीने की मुझे आदत नहीं है। कहीं ज्यादा हो जायगी, तो घर पहुँचना मुश्किल हो जायगा।"

"मैं आपको ज्यादा नहीं दूँगा, जनाब, इतमीनान रखिये। अद्धे में आती ही कितनी है! फिर शराब का नशा देर तक ठहरता भी तो नहीं।" भोला का गिलास भर कर सोहनलाल ने अपना भरा।

"यार, मुझे तो भरा गिलास देख कर डर लग रहा है। थोड़ी-सी इसमें से निकाल लो।"

"डरने की कोई बात नहीं है, भोला भाई। गिलास उठाइये, देर न कीजिये। हाँ, शाबाश!"

पीकर खाली गिलास मेज पर एक ओर रख कर, काँटे और छुरियाँ लेकर दोनों चापों की ओर आकृष्ट हुये।

दो-तीन चाप खाकर, आमलेट पर छुरी चलाते हुये सोहनलाल ने कहा—"आप तकल्लुफ कर रहे हैं, भोला भाई!"

"नहीं, यार, खा तो रहा हूँ।"

"वाह! आपके जैसा दोस्त पाकर, दुनिया में किसीको किस चीज की जरूरत हो सकती है? नहीं, किसी चीज की नहीं! और हम दोनों के ताल्लुकात पुराने हैं। आपके पापा और मेरे वालिद बड़े पुराने दोस्त हैं। मेरे वालिद आपके पापा से हर काम में सलाह लेते हैं!"

"यह सब आप क्यों कह रहे हैं, सोहन भाई? क्या मैं नहीं जानता? जानता हूँ, बखूबी जानता हूँ! और, एक बात इस वक्त साफ तौर से कह देना चाहता हूँ। उन बुजुर्गों की दोस्ती से हम लोगों को सबक लेना चाहिये!"

"वाह, भोला भाई, वाह! आप शायद इसे खुशामद समझें, लेकिन मैं फिर कहूँगा कि आपकी अक्लमन्दी का कायल हो गया। मेरे दिल में आपकी किस कदर इज्जत है यह मैं बयान नहीं कर सकता। आपके दिल में मेरा ख्याल चाहे हो या न हो, लेकिन मैं तो आपको अपना दिली दोस्त समझता हूँ और हमेशा समझता रहूँगा।"

"यकीन कीजिए, सोहन भाई, मेरे दिल में भी आपकी बड़ी इज्जत है। मैं भी आपको अपना हकीकी दोस्त समझता हूँ!"

बोतल खोल कर भोला का गिलास भरते हुये सोहनलाल ने कहा—"यह आपकी फराखदिली है, जनाब! मैं तो अपने को इस तारीफ के काबिल नहीं समझता! आप..."

"आप मेरा गिलास फिर भर रहे हैं?"

"इतमीनान रखिए, बाबू भोलानाथ, मैं आपको उतनी ही दूँगा जितनी आप आसानी से पी सकते हैं! ज्यादा हो जाय तो कहियेगा!"

"अच्छा, पिलाइए, साहब, जितनी चाहिये पिला दीजिए।"

"वाह! हिम्मत हो तो ऐसी हो!" सोहनलाल अपना गिलास भरने लगा।

गर्व से फूल कर भोलानाथ ने अपना गिलास उठाया, मुख से लगाया और तुरन्त खाली कर दिया। खाली गिलास मेज पर रख कर वह मुस्कराता हुआ सोहनलाल के चेहरे की ओर देखने लगा।

दो-तीन क्षण में एक वर्दीपोश वेटर हाजिर हुआ।

"और कुछ चाहिये, बाबूजी?"

"क्यों, बाबू भोलानाथ, कोई चीज मंगवाऊँ?"

"न...हीं, जनाब, बस!"

"अब कुछ न चाहिये। बिल ले आओ।"

"बहुत अच्छा, हुजूर!"

मेज साफ करके वेटर चला गया।

सोहनलाल ने जेब से सिगरेट-केस निकाल कर, खोल कर भोला के सामने पेश किया।

"आ...प तो जा...नते हैं, सोहन भाई, मैं सिगरेट नहीं पीता!"

"हाँ, भोला भाई, मैं खूब जानता हूँ। लेकिन इस वक्त एक सिगरेट पीजिये। कुछ नुकसान न होगा!"

"नुक...सान! लाइये, जरूर पिऊँगा!" काँपती हुई उंगुलियों से भोला ने एक सिगरेट निकाल ली।

अपने लिये एक सिगरेट निकाल कर, केस बन्द कर, जेब में रख

कर दियासलाई निकाल कर सोहनलाल ने पहले भोलानाथ का सिगरेट जलाया, फिर अपना जलाया। दियासलाई जेब में रख कर टाई ठीक कर सोहनलाल ने कहा—"आपके घर में सब लोग मेरी बड़ी खातिर करते हैं...लेकिन पूर्णिमा देवी मुझसे नाखुश रहती हैं!"

धुएँ का एक कश खींच कर, सोहनलाल की ओर आश्चर्यजनक दृष्टि से देखते हुये, भोला ने कहा—"पूनो आपसे ना...राज रहती है!"

"जी हाँ!"

"क्यों, जनाब?"

"यह तो मैं नहीं जानता!"

"तब आप...का ख्याल गलत है।"

"नहीं, भोला भाई, बिलकुल सही अर्ज कर रहा हूँ!"

"मुझे तो य...कीन नहीं होता, ले...किन अगर वाकई वह नाखुश है, तो मैं उसे समझा दूँगा!"

"शुक्रिया...शुक्रिया! आप से मुझे यही उम्मीद थी, भोला भाई!"

बिल लेकर वेटर सहसा हाजिर हुआ। बिल देख कर, जेब से पर्स निकाल कर, सोहनलाल ने कीमत अदा कर वेटर को इनाम दिया। अदब से सलाम कर वेटर चला गया।

तब वे उठ खड़े हुये। भोला के पैर लड़खड़ाये। सोहनलाल ने तुरन्त उसे सहारा दिया।

हाथ में हाथ डाल कर दोनों रेस्तराँ से बाहर निकले।

"कैसा मजा आ रहा है, भाई!"

"वाह! वा...ह! आप...जैसा दरि...या...दिल इन्सान मैंने आज-तक कहीं न...हीं देखा!"

"शुक्रिया—शुक्रिया! लेकिन...और लोग तो मुझे आवारा समझते हैं!"

"आ...वा...रा समझते हैं! आ...प...को! यह उन लोगों की ना...सम...झी है! मैं तो यही क...हूँ...गा...!" भोला एकाएक चुप हो गया।

उसके चेहरे की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखते हुये सोहनलाल ने शंकित स्वर में पूछा—"कैसी तबीयत है, भोला भाई?"

"कुछ...गड़बड़...मालूम होती है...यार! अब मैं...फौरन मकान जाना चाहता हूँ!"

"बस, आ गये। वह देखिये, ताँगे खड़े हैं।"

एक मिनट में किसी तरह वे ताँगों के अड्डे पर पहुँच गये। कई ताँगेवालों ने एक साथ पूछा, "कहाँ चलना होगा, बाबूजी?"

जो ताँगा समीप खड़ा था, उसी पर दोनों सवार हो गये। सोहन-लाल ने ताँगेवाले को पता बता दिया। चाबुक पड़ा, घोड़ा हवा से बातें करने लगा।

भोला ने आँखें बन्द कर लीं, किन्तु घबराहट बढ़ गई। उसने तुरन्त आँखें खोल दीं।

"कैसी तबीयत है, भोला भाई?"

"तबीयत मालिश कर रही है! जल्दी ताँगा रोकिये।"

"अच्छा। ताँगेवाले! जल्दी ताँगा रोको।"

ताँगा रोक कर, ताँगेवाले ने कौतूहलवश पूछा—"क्या बात है, बाबूजी?"

भोला फौरन ताँगे से उतरा और पटरी की ओर भागा। सोहनलाल भी उसके पीछे लपका।

"ओ! ओ!" किसी तरह एक पेड़ के नीचे पहुँच कर, जमीन पर बैठ कर भोला वमन करने लगा।

सोहनलाल उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा।

"पानी? पानी, सोहन...? ओ? ओ?"

"पानी? उधर एक दूकान है, शायद वहाँ मिल जाय। अभी पानी लाता हूँ, भोला भाई!" दौड़ कर सोहनलाल एक कच्ची सड़क पर मुड़ गया।

इस सड़क पर एक छोटी-सी दूकान थी। इस दूकान में आटा, दाल, चावल, मसाले, सिगरेट, पान शर्बत, लेमनेड इत्यादि बंगलों के नौकरों की दैनिक आवश्यकता की प्रायः सभी चीजें बिकती थीं। दूकान में लैम्प का धुँधला प्रकाश फैला हुआ था, किन्तु दूकानदार न था। सोहनलाल ने आवाज लगाई—"दूकानदार! ओ दूकानदार!"

"कौन है?" कोठरी से उत्तर आया।

"जरा बाहर आओ, महाजन!"

दूकानदार कोठरी में भोजन कर रहा था। झाँक कर उसने पूछा—"क्या चाहिये, बाबूजी?"

"बाहर तो आओ।"

"अच्छा आया, बाबूजी!" खाना छोड़कर, हाथ धोकर, अँगौछे से मुँह पोंछता हुआ दूकानदार बाहर निकला।

"क्या दीजियेगा, बाबूजी?"

"एक पैकेट सिगरेट दे दो, पान के चार बीड़े, और थोड़ा-सा पानी।"

"पानी ! लिमलट लीजियेगा क्या, बाबूजी ?"

"नहीं, सादा पानी। एक लोटे में दे दो।"

"क्या कीजियेगा, बाबूजी ?"

"मेरे एक दोस्त को जरूरत है, उसकी तबीयत खराब हो गई है।"

"लोटे में कैसे दूँ, आपको तो मैं जानता नहीं ?"

जेब से पर्स निकाल कर, पर्स से एक रुपया निकाल कर सोहनलाल ने दूकानदार के सामने फेंक दिया।

"लो, यह रुपया रखे रहो। पहले पानी दे दो फिर पान लगाओ।"

"अभी देता हूँ, हुजूर ! माफ कीजिये। बिना जाने डर लगता है, बाबूजी। कई दफ़ा धोखा खा चुका हूँ।" वह कोठरी में चला गया।

दो मिनट में शीतल जल से भरा लोटा लिए हुए दूकानदार बाहर निकला। लोटा लेकर सोहनलाल चला गया। दूकानदार पान लगाने लगा।

व्यग्रता से सोहनलाल की प्रतीक्षा करता हुआ भोला पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। उसका चित्त अब बहुत कुछ शान्त हो गया था, किन्तु जल की आवश्यकता प्रति क्षण बढ़ रही थी।

"आ गया, भोला भाई !"

यह आवाज सुन कर भोला को किंचित सन्तोष हुआ। दो-तीन क्षण में सोहनलाल आ पहुँचा। शीघ्रता से उसके हाथ से लोटा लेकर भोला मुँह धोने लगा।

मुँह धोकर, उठ कर, भोला जेब से रूमाल निकालने लगा।

जमीन से लोटा उठा कर सोहनलाल ने पूछा—"अब कैसी तबीयत है ?"

"अच्छी है !"

"शुक्र है ! अब ताँगे पर बैठिये, मैं लोटा वापस कर आऊँ ।"

"अच्छा ।"

सोहनलाल उस ओर चला गया । घूम कर, भोला धीरे-धीरे ताँगे के समीप पहुँचा ।

"आइये, बाबूजी, बैठिए । कैसा जी है ?"

"अब तो कुछ अच्छा है, भाई ।"

"आपने शराब पी थी क्या ?"

"हाँ, पी तो थी ।"

"बस, इसी से कै भया, बाबूजी । दारू बड़ी खराब चीज है, भैया । एक बार मेरे काका ने मुझे जबरदस्ती दारू पिला दी । बस, थोड़ी देर के बाद कै हो गई । और दो दिन तक मैं खाट में पड़ा रहा । तब से मैंने कान पकड़ा कि कभी दारू न पिऊँगा !"

दो-तीन क्षण में सोहनलाल ताँगे के समीप आ पहुँचा ।

"लीजिए, पान खाइये, भोला भाई !"

"पान तो मैं नहीं खाता, यार !"

"खा लीजिए, जनाब, मुँह का जायका बदल जायगा, तो तबीयत बिलकुल साफ़ हो जायगी ।"

"अच्छा लाइये ।" भोला ने बीड़े लेकर मुख में रख लिये ।

सोहनलाल ताँगे पर सवार हो गया ।

"चलूँ, बाबूजी ?"

"हाँ, चलो ।"

लगाम खिंची, चाबुक पड़ा, घोड़ा दौड़ने लगा । सोहनलाल ने वार्ता-

लाप करने की कोशिश की, किन्तु सफल न हुआ। 'हूँ'—'हाँ' के सिवा भोला ने कुछ न कहा। हार कर सोहनलाल चुप हो गया। भोला अपने विचारों में तल्लीन था। घर पर सब लोग सो गए होंगे। अन्दर जाकर सोना ठीक न होगा? नहीं, बाहर दुर्गा के पास ही पड़े रहना ठीक होगा। दुर्गा सो गया होगा? हाँ अब तक जरूर सो गया होगा। लेकिन, कमरा तो खुला रहता है। तब कोई दिक्कत न होगी। यह सब सोहनलाल की वजह से हुआ? हाँ, उसके कहने में पड़ कर यहाँ न आते, तो तबीयत खराब क्यों होती? सोहनलाल अच्छा आदमी नहीं है लेकिन...

बंगला सामने आ गया।

"यहीं रोको ताँगेवाले!"

ताँगा रुक गया। भोला उतर पड़ा।

"आदाब-अर्ज, बाबू सोहनलाल!"

ताँगे से उतर कर, सोहनलाल ने कहा, "चलिये, आपको पहुँचा दूँ।"

"नहीं, अब आप तकलीफ न कीजिए। काफी देर हो चुकी है, घर जाइये। मैं चला जाऊँगा।"

"आपको अन्दर पहुँचा देता, तो मुझे इतमीनान हो जाता!"

"शुक्रिया! अब मैं बिलकुल चंगा हो गया हूँ, फ़िजूल तकलीफ न कीजिए। आदाब-अर्ज!"

"आदाब-अर्ज। मैं कल आऊँगा।"

बिना कुछ उत्तर दिये भोला बंगले में घुस गया। वाटिका में प्रगाढ़ अंधकार छाया हुआ था। हाँ, वहाँ बंगले के सायबान में मन्द प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा था। भय से काँपता हुआ, धीरे-धीरे आगे बढ़ कर भोला सायबान की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा।

"कौन है ?" दूर से चौकीदार ने आवाज लगाई। शीघ्रता से दालान में पहुँच कर, झपट कर भोला दुर्गा के कमरे में घुस गया। दीवार के समीप जाकर, टटोल कर उसने खटका दबाया। कमरा प्रकाश से भर गया। तब वह आरामकुरसी पर लेट गया। उसका हृदय वेग से धड़क रहा था। उसने आँखें बन्द कर लीं।

जब उसकी तबीयत कुछ सँभल गई, तो उसने आँखें खोलीं। पलंग पर पड़ा हुआ दुर्गा प्रगाढ़ निद्रा का मज़ा ले रहा था। दुर्गा को जगाना चाहिये ? नहीं, जगाना ठीक नहीं, वह गहरी नींद में है। लेकिन तबीयत तो बहुत घबरा रही है। रात कैसे कटेगी ? ओफ ! फिजूल इतनी आफ़त मोल ले ली। नहीं, दुर्गा को जगा लेना ही मुनासिब है।

"दुर्गा ! दुर्गा !"

चौंक कर दुर्गा ने आँखें खोल दीं। भोला को देख कर, जम्हाई लेकर, वह उठ बैठा।

"घूम कर कब आये, भोला ?"

"अभी चला आ रहा हूँ।"

"कहाँ गए थे ? तुम्हारा चेहरा क्यों उतरा हुआ है ? तबीयत तो अच्छी है न ?"

"तबीयत अच्छी होती, तो इस वक्त तुम्हें क्यों जगाता ?"

"क्यों, क्या बात है ?" पलंग से उतर कर दुर्गा, भोला के समीप एक कुरसी पर बैठ गया।

"कुछ न पूछो, यार, सोहनलाल के चक्कर में पड़ गया था।"

क्रोध से दुर्गा का चेहरा लाल हो गया, किन्तु मन के भाव को दबाता हुआ, वह प्रश्न-सूचक दृष्टि से भोला के चेहरे की ओर देखने लगा।

"सोहनलाल मुझे एक रेस्तराँ में लिवा ले गया। वहाँ उसने मुझे शराब पिला दी, और बहुत-सी अनाप-शनाप चीजें खिलाईं। जब हम लोग रेस्तराँ से बाहर निकले, तो मुझे चक्कर आने लगा। किसी तरह एक ताँगे पर सवार हो गये। रास्ते में मेरी तबीयत मालिश करने लगी। फिर कै हुई। तब से बड़ी कमजोरी मालूम हो रही है, और अजीब तरह की घबराहट है।"

"यह सब तो बहुत खराब हुआ, भोला! तुम्हारी भली-चंगी तबीयत नाहक खराब हो गई। तुम्हें यहाँ आये क्या देर हुई?"

"नहीं, अभी तो आया हूँ। शायद दस मिनट हुये होंगे। जब मैं आया, तो तुम सो रहे थे। पहले तो मैंने सोचा कि तुम्हें न जगाऊँ, सोने दूँ। लेकिन एकाएक जी बहुत घबराने लगा। अन्दर जाना ठीक न था, इसलिये तुम्हें जगाना ही मुनासिब मालूम हुआ। तब मैंने..."

सहसा चौकीदार हाथ में लाठी लिये हुये दरवाजे के सामने आकर खड़ा हो गया। उसकी ओर देख कर भोला ने कहा—"क्या है, ठाकुर?"

"भैया, इधर कोई आदमी तो नहीं आया?"

भोला ने मुस्कराते हुए कहा—"वह आदमी मैं ही था, ठाकुर!"

"आप थे, भैया?"

"हाँ, ठाकुर, मैं ही था। मैं जरा एक जगह घूमने गया था। वहाँ मुझे देर हो गई। इसीलिये अभी लौटा हूँ। तुम अपने काम में खूब चौकस रहते हो। तुमसे मैं बहुत खुश हूँ!"

चौकीदार की बाँछें खिल गईं। मुस्कराते हुये उसने कहा—"यह तो मेरा काम ही है, भैया। इसी के लिये तो तनख्वाह पाता हूँ!"

"जब तुमने ललकारा, तो मेरा होश उड़ गया, ठाकुर!"

"माफ कीजिये, भैया! मैं क्या जानता था कि आप हैं, नहीं तो मैं क्या..."

"नहीं, ठाकुर, मैं तुमसे नाराज नहीं हूँ। बहुत खुश हूँ। हर शख्स को अपने काम में तुम्हारी तरह होशियार रहना चाहिये। हाँ, ठाकुर सुनो, देखो, इस बात का जिक्र किसीसे मत करना!" और भोला ने एक अठन्नी उसके हाथ पर रख दी।

"बहुत अच्छा भैया। आपका हुकुम है, तो मैं यह बात किसीसे न कहूँगा। अच्छा, भैया, सलाम!" वह चला गया।

तब मूर्त्तिवत्, निस्तब्ध बैठे हुये दुर्गा की ओर भोला ने देखा। फ़र्श से दृष्टि उठा कर भोला के चेहरे की ओर देखते हुये, सिर हिला कर, दुर्गा ने कहा—"सोहनलाल अच्छा आदमी नहीं है, भोला!"

"हाँ, दुर्गा, वह अच्छा आदमी नहीं है। उसके साथ रहने से सिवाय नुकसान के फायदा नहीं हो सकता!"

"कल जब मैंने उसे पहले-पहल देखा, तो उसके ऊपर न जाने क्यों क्रोध आया। लेकिन आज तो मेरे दिल में उसके लिये घृणा पैदा हो गई।"

कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से दुर्गा के चेहरे की ओर देखते हुये, भोला ने कहा—"मेरे दिल में भी इस वक्त उसकी तरफ से नफ़रत पैदा हो गई है।"

"उसने आज बड़ी बेहूदा हरकत की है!"

"इसमें कुछ न कुछ मेरा भी कसूर है, दुर्गा, लेकिन अगर वह जिद न करता, तो मैं उसके साथ हरगिज न जाता।"

"एक यही बात नहीं है, भोला। उसने आज पूर्णिमा को बहुत परेशान किया।"

"पूनो को उसने परेशान किया ?" चकित होकर भोला ने कहा।

"हाँ, भाई, पूर्णिमा को उसने एक खत लिखा है !"

"खत लिखा है ?"

"हाँ, खत लिखा है। उस खत में बड़ी खराब बातें लिखी हैं। पूर्णिमा ने खत मुझे दिखाया। उसे पढ़ कर, मुझे सोहनलाल के ऊपर बड़ा क्रोध आया।"

"अच्छा, तो हजरत ने पूनो को खत लिखा है। तभी वह मुझसे कह रहा था, कि पूनो मुझसे नाराज रहती है। कैसा छंटा हुआ बदमाश है ? पूनो ने मुझसे बतलाया होता, तो मैं हजरत की खूब खबर लेता ! लुच्चा—अवारा—बदमाश !"

"आज शाम को जब वह आया था, तब उसने खुद पूर्णिमा के पास जाकर उसे खत दिया। पूर्णिमा ने मुझे बतलाया कि खत देकर वह बाहर चला गया। उसने जब खत पढ़ा, तो उसे उसके ऊपर बड़ा क्रोध आया। उसने खत फाड़ कर फेंक दिया। थोड़ी देर बाद खत के टुकड़े लेकर वह बाहर निकली कि सोहनलाल को वापस कर दे, लेकिन उस वक्त तुम्हें साथ लेकर वह चला गया था।"

"अब मेरी समझ में आया। वह मेरे साथ चाल चल रहा था। उसकी मंशा जरूर यही थी कि मेरे जरिये पूनो के ऊपर डोरे डाले।"

"ठीक कहते हो, भोला। उसकी मंशा जरूर यही थी ! पूर्णिमा तो चाहती थी कि वह खत पापा को दे दे, लेकिन मैंने मना कर दिया।"

"हाँ, तुमने उसे ठीक सलाह दी, दुर्गा। पापा से अभी शिकायत करना ठीक नहीं है। लेकिन अब उनसे कहने की जरूरत न पड़ेगी—मैं

खुद उस शैतान से निपट लूँगा। उसने हम लोगों को क्या समझ रखा है? मिजाज ठीक कर दूँगा बेहूदे का।"

"ठीक है, भोला, हम लोग ही उससे निपट लेंगे, पापा से कहने की जरूरत न पड़ेगी।"

"कल वह किसी वक्त जरूर आवेगा, उसने मुझसे कहा था।"

"हाँ, वह कल आवेगा, पूर्णिमा से भी उसने यह कहा था।"

"बस, ठीक है, कल आने दो हजरत को, मैं देख लूँगा।"

"अच्छा, तो अब आराम करो, भोला। तुम्हारी तबीयत अच्छी नहीं है, अब तुम्हें फौरन सो जाना चाहिये।"

"हाँ, ठीक कहते हो, अब सो जाना ही मुनासिब है। तुम चारपाई पर लेटो, मैं इसी आराम कुरसी पर सो जाऊँगा।"

"नहीं, तुम चारपाई पर सोओ। तुम्हारी तबीयत खराब है, आराम-कुरसी पर सोओगे, तो नींद ठीक तरह न पड़ेगी। मैं फ़र्श पर सो रहूँगा।"

"यह नहीं हो सकता। कुरसी पर सोने से मुझे कोई तकलीफ न होगी।"

"तो यह भी नहीं हो सकता कि मैं चारपाई पर सोऊँ। मैं तो जमीन पर ही सोऊँगा।"

"मेरी बात नहीं मानोगे, दुर्गा?"

"यह तो मैं तुमसे कहता, तो ठीक होता। तुम्हारी तबीयत खराब है, लेकिन तुम फ़िजूल ज़िद कर रहे हो।"

"मैं ज़िद कर रहा हूँ?"

"यह ज़िद नहीं है, तो क्या है?"

"अच्छा, भाई, मैं ही तुम्हारी बात मानूँगा। अब तो तुम खुश हो?"

"हाँ, अब तुम ठीक रास्ते पर आये। अच्छा, उठो, देर न करो।"

"विवश होकर, भोला मुस्करा सा हुआ उठा और पलंग पर जाकर लेट गया। दुर्गा फ़र्श पर लेटने की तैयारी करने लगा।

"फ़र्श पर ही सोना है, तो लो यह चद्दर बिछा लो।"

"रहने दो, यार, मैं अपनी धोती बिछा लूँगा।"

"धोती बिछाओगे? नहीं दुर्गा, चद्दर ले लो, ज़िद न करो।"

"चद्दर ओढ़ने की है, इसकी तुम्हें जरूरत पड़ेगी।"

"ओढ़ने की है? तो क्या हुआ? बिछाओ यार, कहना मानो।"

"अच्छा, लाओ।"

भोला के हाथ से चद्दर लेकर, दुर्गा उसे फ़र्श पर बिछाने लगा।

"लो, एक तकिया भी ले लो।"

"लाओ।"

तकिये पर सिर रख कर लेट कर, दुर्गा ने पूछा—"अब रोशनी गुल कर दूँ, भोला? तुम्हारी तबीयत अब कैसी है?"

"अब तो बहुत अच्छी है, यार! हाँ, रोशनी गुल कर दो।"

दुर्गा उठ कर खड़ा हुआ, तो भोला ने कहा—"मुझे थोड़ा-सा पानी पिला दो, दुर्गा!"

"अच्छा, देता हूँ।"

खिड़की के समीप जाकर, सुराही से शीशे के गिलास में जल उँड़ेल कर, लौट कर दुर्गा ने गिलास भोला की ओर बढ़ाया। उठ कर गिलास लेकर भोला जल पीने लगा। जल पीकर, झुक कर, गिलास फ़र्श पर रख दिया।

झुक कर, गिलास उठा कर, दुर्गा ने कहा—"और लोगे, भोला ?"

"बस, शुक्रिया !"

दुर्गा खिड़की के पास गया। गिलास धोया और जल लेकर पिया। लौट कर रोशनी बुझाई और बिस्तर पर लेट गया।

"दुर्गा !"

"हाँ, भोला ?"

"मुझे कोई पूछता तो नहीं था ?"

"बराबर पूछ-ताछ हो रही थी। कई बार उजागिर मेरे पास पूछने आया था। बड़ी देर तक तुम्हारा इन्तजार होता रहा। लेकिन चूँकि तुम सोहनलाल के साथ गये थे, इसलिये इतमीनान था।"

"अम्मा नाराज होती थीं ?"

"यह तो मैं नहीं जानता, भाई।"

"सबेरे बड़ी फटकार सुननी पड़ेगी ! खैर, देखा जायगा।"

"नहीं, कोई कुछ न कहेगा। अच्छा, अब सो जाओ, भोला।"

"अच्छा।" निस्तब्ध होकर उसने आँखें बन्द कर लीं।

दुर्गा विचारों में व्यस्त हो गया। सोहनलाल के खत की बात भोला से कह देना ठीक हुआ या नहीं ? शायद, कहना उचित न था। नहीं, क्यों न था ? हाँ, उचित था, अवश्य उचित था। खत की बात जान लेने के कारण भोला को यथेष्ट लाभ होगा। हाँ, सोहनलाल अब भोले-भाले भोला के ऊपर अपना रंग न जमा सकेगा। इस तरह सहज ही में उसकी रक्षा हो जायगी। सोहनलाल की चाल कट गई, यह बहुत अच्छा हुआ। पूर्णिमा ! पूर्णिमा ! एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर दुर्गा ने आँखें बन्द कर लीं। किन्तु आँखें बन्द कर लेने ही से तो मस्तिष्क अपना

काम बन्द नहीं कर देता। विचार प्रवाह जारी था। विकट विकलता की दशा में पड़ा हुआ दुर्गा करवटें बदलने लगा।

इस तरह इधर कुछ दिनों से पूर्णिमा को लेकर जो भाव उसके हृदय में अंकुरित होने लगा था, वह उस दिन एकाएक बढ़ कर लह-लहाने लगा।

१८

दूसरे दिन सवेरे जब भोला ने पूर्णिमा के कमरे में प्रवेश किया, तो उसने उसकी ओर किंचित् अवहेलना-भरी दृष्टि से देखा। किन्तु भोला के चेहरे पर पश्चात्ताप की छाया थी। पूर्णिमा का भाव तुरन्त बदल गया। आराम कुरसी पर बैठ कर, जब भोला ने उसकी ओर देखा, तो पूर्णिमा के मुख-मण्डल पर करुणा व्यक्त थी।

"पूनो।"

"जी हाँ, दादा।"

"सोहनलाल ने क्या तुम्हें कोई खत लिखा है?"

एक क्षण कुछ सोच कर पूर्णिमा ने धीरे से कहा—"जी हाँ, दादा, उसने मुझे एक बड़ा खराब खत लिखा है।"

"कहाँ है वह खत? लाओ, देखूँ।"

"अभी देती हूँ।"

उठ कर, मेज के समीप जाकर, एक ड्राअर खोल कर, पूर्णिमा ने वह लिफाफा निकाला।

"लीजिये, यह है।"

उलट कर लिफाफा लेकर, खोल कर, भोला पत्र के टुकड़े निकालने लगा। कुछ टुकड़े उसकी हथेली पर गिरे, कुछ उड़ कर फ़र्श पर बिखर गये। झुक कर, पूर्णिमा फ़र्श पर पड़े हुये टुकड़े बीनने लगी।

पूर्णिमा ने टुकड़ों पर नम्बर डाल दिये थे। इसलिये मेज पर टुकड़ों को फैला कर जोड़ने में कठिनाई नहीं हुई। भोला पत्र पढ़ने लगा। दो-तीन पंक्तियाँ पढ़ने के बाद ही उसके चेहरे पर क्रोध व्यक्त हो गया। कुछ आगे चल कर, क्रोध में घृणा आ मिली। पत्र समाप्त करना कठिन हो गया। काँपती हुई अंगुलियों से भोला ने टुकड़ों को समेट कर लिफाफे में रख दिया, फिर लिफाफा अपनी कमीज की जेब में रख लिया। तब पूर्णिमा ने उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा।

"पूनो।"

"जी हाँ।"

"सोहनलाल आज फिर आयेगा?"

"हाँ, आज वह पत्र का जवाब लेने आयेगा।"

"अच्छा, आज वह जब आये, तो तुम उससे न मिलना।"

"मैं तो कल भी उससे नहीं मिलना चाहती थी। लेकिन उसने कमरे के सामने आकर दरवाजा थपथपाया। दरवाजा खोल कर जब मैंने उसे खूब फटकारा, तो यह लिफाफा मेरे सामने फेंक कर वह चला गया।"

"कल तुमने उसे फटकारा था?"

"हाँ, मैंने उसे खूब फटकारा था। बात यह थी कि परसों पैलेस में भी उसने मुझे तंग किया था। इसीलिये मैंने एकाएक बीच में ही घर चलने को आपसे कहा था।"

दाँत पीस कर भोला ने कहा—"उसने क्या किया था, पूनो ?"

पूर्णिमा लज्जावश कुछ न कह सकी, सिर झुकाये हुये निस्तब्ध बैठी रही।

"बोल, पूनो !"

"दादा...उसने...मेरा...हाथ पकड़ लिया था।"

"बदमाश, शैतान कहीं का।"

"शर्म के मारे...आपसे...मैं कुछ कह नहीं सकी...इसलिये मैंने बीमारी का बहाना किया था।"

क्रोध और घृणा की अग्नि में जलता हुआ वह कई मिनट तक मूर्तिवत्, निस्तब्ध बैठा रहा। फिर वह उठ खड़ा हुआ और बोला—"आज वह जब आयेगा, तो मैं उससे बातें कर लूँगा, पूनो, तुम उससे न मिलना।"

"मुझे तो उसकी सूरत से नफ़रत है।"

"पापा से कुछ न कहना, पूनो। अगर जरूरत होगी, तो मैं खुद उनसे कहूँगा।"

"बहुत अच्छा।"

तब भोला धीरे-धीरे कमरे के बाहर निकल गया।...

उस समय दुर्गा भोला के कमरे में मेज के सामने बैठा हुआ इतिहास पढ़ने की चेष्टा कर रहा था। किन्तु मुगल सम्राट् औरंगजेब का इतिहास उस समय उसे अत्यन्त रूखा-फीका प्रतीत हो रहा था। देखते-देखते उस अरुचिकर इतिहास के स्थान पर एक दूसरा मनोरंजक इतिहास चित्रित होकर दृष्टिगोचर होने लगा। उस मनोरंजक इतिहास के चित्रों को देखते-देखते उसका हृदय लज्जा से भर गया। क्यों ? इसलिये

कि उन चित्रों में वह किसी-न-किसी रूप में विद्यमान था। क्या उस सम्मान का वह अधिकारी था?

सहसा भोला ने कमरे में प्रवेश किया। अर्द्धचेतना की दशा भंग हो गई। औरंगजेब का रूखा-फीका इतिहास फिर सामने आ गया।

"दुर्गा!" एक कुरसी पर बैठ कर भोला ने कहा।

लज्जा को गाम्भीर्य के परदे में छिपा कर, सिर उठा कर दुर्गा ने उसकी ओर देखा।

"मैंने पूनो से सोहनलाल का खत ले लिया।"

"ले लिया?"

"हाँ, ले लिया। यह है। अब मैं उस बदमाश को खुद इस खत का जवाब दूँगा।"

"यह तुमने ठीक सोचा है, भोला! वह छकेगा।"

"देखो, वह कब आता है। जब चाहे आवे, आज मैं दिन भर उसका इन्तजार करूँगा।"

"तो स्कूल न जाओगे क्या?"

"नहीं आज न जाऊँगा।"

सिर झुका कर दुर्गा पढ़ने की चेष्टा करने लगा।

"क्या पढ़ रहे हो, दुर्गा?"

"इतिहास है।"

"अच्छा, जोर से पढ़ो, मैं भी सुनता चलूँ।"

"तुम भी अपनी किताब ले लो, तो ठीक हो।"

"ठीक कहते हो।" भोला ने उठ कर, आलमारी से पुस्तक निकाल ली।

दुर्गा पढ़ने लगा। सामने खुले हुये पृष्ठ पर दृष्टि जमा कर भोला सुनने लगा। इस तरह दोनों आधे घंटे तक पढ़ते रहे।

"आदाब-अर्ज !" सहसा सोहनलाल ने कमरे में प्रवेश किया।

"अल्लाह ! आप हैं! आइये जनाब, तशरीफ रखिये। आज इतने सवेरे आपने कैसे तकलीफ की ?"

"बात यह थी कि कल आपकी तबीयत खराब हो गई थी। उसी फिक्र की वजह से मुझे रात भर ठीक तरह से नींद नहीं आई। इसलिये मैंने सोचा कि इसी वक्त चल कर आपको देखना चाहिये।"

"बड़ी इनायत की। वाह! आपको मेरा इतना खयाल है! शुक्रिया, शुक्रिया !"

"शुक्रिया की तो कोई जरूरत नहीं है, जनाब !"

"लेकिन शुक्रिया अदा करना मेरा फ़र्ज तो है।"

"ही-ही-ही-ही।"

किन्तु भोला इस हँसी में शरीक न हुआ। तीव्र दृष्टि से सोहनलाल के चेहरे की ओर देखता हुआ वह निस्तब्ध बैठा रहा।

सोहनलाल का माथा ठनका। प्रश्न-सूचक दृष्टि से भोला की ओर देखते हुए उसने कहा—"कहिए, इस वक्त आपका मिजाज कैसा है ?"

"जनाब की इनायत से अच्छा हूँ।" सहसा जेब में हाथ डाल कर उसने लिफाफा निकाला।

एक बार लिफाफे की ओर देख कर भोला ने सोहनलाल की ओर देखा। उसका चेहरा फ़क हो गया था। सिर झुकाये हुए वह फ़र्श की ओर ताक रहा था।

"बाबू सोहनलाल !"

"जी हाँ," फ़र्श की ओर ताकते हुए उसने उत्तर दिया।

"मेरी तरफ देखिए, जनाब! फ़र्श पर तो शायद कोई देखने लायक चीज नहीं है।"

विवश होकर सोहनलाल ने सिर उठाया।

"इस लिफाफे को आप पहचानते हैं?"

"मैं...मैं...ही-ही-ही-ही!"

"देखिए, रंगबाजी से काम नहीं चलेगा, जनाब! मेरे सवाल का जवाब दीजिए। इसे आप पहचानते हैं?"

"आप तो...अजीब सवाल कर रहे हैं।"

"जी हाँ, मेरा सवाल अजीब है, इसलिए कि यह लिफाफा अजीब है, इसके अन्दर का खत भी अजीब है।"

सोहनलाल फिर फ़र्श की ओर ताकने लगा।

"सोहनलाल, किसी शरीफ लड़की को इस तरह का खत लिखना शरीफ़ आदमी का काम नहीं है।"

"आप...यह ..कैसी बातें कर रहे हैं, भोला भाई?"

"मैं आपका भाई हूँ, तो पूनो आपकी कौन है?"

सोहनलाल निस्तब्ध बैठा रहा। जोर से उसके ऊपर लिफाफा फेंक कर भोला ने कहा—"अपना खत लो। पूनो का जवाब भी तुम्हें इसमें मिल जायगा।"

"मेरा...खत? मेरे ऊपर—आप कैसा इल्जाम लगा रहे हैं?"

"तो क्या मैं झूठा इल्जाम लगा रहा हूँ?"

"अपने घर...पर किसी की...बेइज्जती करना...शराफत के खिलाफ है।"

"मैं शरीफ़ नहीं हूँ, और तू शरीफ़ है! सुअर, बदमाश!"

"जरा जबान सँभाल कर बोलिये!"

क्रोध से काँपता हुआ, भोला सोहनलाल की ओर लपका और उसके मुख पर थप्पड़ों की वर्षा करने लगा।

"शैतान ! आवारा ! बदमाश !"

भोला से सोहनलाल बहुत बलिष्ठ था। यदि वह सावधान होता, तो कदाचित् भोला का एक वार भी सफल न होता। किन्तु वह न जानता था कि भोला उसके ऊपर शारीरिक वार करने का साहस कर सकेगा। अपने शारीरिक बल के ज्ञान के कारण सावधान होने की उसे आवश्यकता न प्रतीत हुई। इसलिये थप्पड़ खाता हुआ भी वह अवाक् बैठा रह गया। आश्चर्य का आवेग जब कुछ कम हो गया, तो एकाएक घबरा कर उसने उठने की कोशिश की। कुरसी जोर से हिली, तीन पैरों पर नाची और धड़ाके का शब्द करती हुई फ़र्श पर गिर पड़ी। सोहनलाल भी गिरा और लुढ़क कर दीवार के समीप पहुँच गया। तन कर खड़ा हुआ भोला अग्नि-वर्षा करती हुई आँखों से उसकी ओर एकटक देखने लगा।

दुर्गा निस्तब्ध बैठा हुआ आश्चर्य से यह विकट दृश्य देख रहा था। अब वह उठ खड़ा हुआ, और सोहनलाल के समीप जाकर उसे उठाने की कोशिश करने लगा। संज्ञा-शून्य-सा पड़ा हुआ सोहनलाल अब सचेत हुआ। दुर्गा की सहायता से वह दो-तीन मिनट में उठ खड़ा हुआ।

"ज्यादा चोट तो नहीं लगी ?" दुर्गा ने दयार्द्र स्वर में पूछा।

सोहनलाल ने कोई उत्तर न दिया। दुर्गा की ओर एक बार क्रोध-पूर्ण दृष्टि से देख कर, फ़र्श पर पड़ी हुई अपनी टोपी उठा कर, वह शीघ्रता से कमरे के बाहर निकल गया।

"हा-हा-हा, हा-हा-हा !" विकट अट्टहास कर भोला आराम कुरसी पर बैठ गया।

किन्तु दुर्गा उस हँसी में सम्मिलित न हुआ। मेज के समीप पड़ी हुई एक कुरसी पर बैठ कर, वह शून्य दृष्टि से फ़र्श की ओर ताकने लगा।

कई क्षण तक निस्तब्ध रह कर, चित्त सँभाल कर भोला ने मुस्कराते हुये कहा—"कैसी रही, दुर्गा ?"

दुर्गा चुपचाप बैठा रहा। शंकित दृष्टि से उसके मुख की ओर देख कर भोला ने आग्रह किया—"बोलो, दुर्गा, मैंने ठीक किया न ?"

तब दुर्गा ने जबान खोली—"उसे मारना नहीं चाहिये था, भाई !"

"मारना नहीं चाहिये था ?"

"हाँ, नहीं मारना चाहिये था। डाँट-फटकार करने ही से काम बन जाता है।"

"नहीं, तुम्हारा ख्याल गलत है, दुर्गा ! बगैर मार-पीट किये इस तरह के लोग नहीं मानते। डाँट-फटकार इनके लिये काफ़ी नहीं होती। पूनो ने उसे कल खूब फटकारा था, लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। चुपचाप डाँट सुन कर, उसके सामने खत फेंक कर वह चला गया।"

"हाँ, यह बात तो ठीक है, लेकिन..."

भोला ने उसकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा। तब दुर्गा ने गम्भीरता से कहा—"मेरा खयाल है कि मार-पीट से कोई सुधरता नहीं, ज़िद्दी हो जाता है।"

"ज़िद्दी हो जाता है ?"

"हाँ, ज़िद्दी हो जाता है। बच्चों को ही ले लो। जो लड़का मारा-पीटा जाता है, वह खराब हो जाता है। पीटनेवाले के डर के मारे उसके सामने चाहे वह बदमाशी न करे, लेकिन उसकी बुराई दूर नहीं होती। मौका पाकर वह फिर जोर मारती है। धीरे-धीरे जब मार खाने का डर उसके दिल से दूर हो जाता है, तो पक्का बदमाश हो जाता है।"

भोला चुप था। दुर्गा के वाक्यों की सत्यता उसे स्वीकार करनी पड़ी। प्रश्न-सूचक दृष्टि से वह उसकी ओर देखने लगा।

गम्भीरता धारण किये हुये, वह फ़र्श की ओर ताक रहा था। अपने वाक्यों पर उसे भी आश्चर्य था। जिस सत्य भाव को वह हृदय में अनुभव कर रहा था, उसे ऐसे अच्छे ढंग से प्रगट कर सकने की आशा उसे न थी।

"तुमने कहा तो ठीक, दुर्गा, लेकिन ऐसे शख्स से किस तरह पीछा छुड़ाया जा सकता है ?"

कई क्षण गम्भीरता से विचार करने के बाद दुर्गा ने कहा—"ऐसे आदमी से कभी किसी तरह का व्यवहार न रखना चाहिये। असहयोग करने के अलावा ऐसे आदमी से पिंड छुड़ाने का और कोई उपाय नहीं है।"

"हाँ, यह उपाय बहुत ठीक है। मार-पीट नहीं करना चाहिए था। मुझसे बड़ी गलती हुई। अब क्या करना चाहिए ? क्या सोहनलाल से माफ़ी माँग लूँ ?"

"माफ़ी माँगोगे ? नहीं—माफ़ी माँगना तो ठीक नहीं मालूम होता।"

"क्यों ? मुझसे गलती हुई है, इसलिए माफ़ी माँगना तो जरूरी है। माफ़ी माँग कर उससे कह दूँ कि अब मैं उससे किसी तरह का व्यवहार रखना नहीं चाहता।"

"अगर अपने से गलती हो जाय, तो माफ़ी जरूर माँगनी चाहिए। लेकिन सोहनलाल से अगर तुम माफ़ी माँगोगे, तो वह फिर तुमसे किसी-न-किसी तरह मेल-जोल बढ़ा लेगा। फिर उससे पीछा छुड़ा लेना तुम्हारे लिए असम्भव हो जायगा।"

"यह तो तुम ठीक कहते हो। लेकिन माफ़ी न माँगूँगा, तो मेरा फ़र्ज़ कैसे पूरा होगा ?"

"तुम्हें अपनी गलती पर अफसोस है, यह बहुत है। इससे तुम्हारा

दोष बहुत घट जाता है। सोहनलाल ने भी गलती की है, लेकिन उसे तो शायद अफ़सोस नहीं है?"

"नहीं, वह अपनी गलती पर अफ़सोस करने वाला आदमी नहीं है। अगर उसे अफ़सोस होता, तो मार-पीट करने की नौबत ही क्यों आती?"

"हाँ, बिलकुल ठीक कहते हो, भोला। अच्छा, अब यह सब रहने दो, आओ थोड़ी देर और पढ़ लें।"

"अब इस समय रहने दो, दुर्गा। पढ़ने में इस वक्त, किसी तरह मन न लगेगा।"

"अच्छा, रहने दो। ठीक कहते हो, इस वक्त मन न लगेगा।"

"अब नहा-धो लेना चाहिये। खाने का वक्त आ गया।"

"अच्छा, पहले तुम नहा लो। तुम नहा चुकोगे, तो मैं नहा लूँगा।"

तब भोला उठ कर गुसलखाने में चला गया।

दुर्गा अपने विचारों में व्यस्त हो गया। उसकी दशा उस समय उस चोर की-सी हो गई थी, जिसकी आँखों के सामने दूसरे चोर को सजा मिली हो। पूर्णिमा ने उसे खत लिखने में गलती की। अगर यह बात भोला को या उसके मा-बाप को मालूम हो जाय, तो क्या हो? जरूर एक आफत खड़ी हो जाय। फिर शायद भोला उसके साथ उसी तरह पेश आवे जैसे सोहनलाल के साथ। उसके साथ भी भोला क्या उसी तरह व्यवहार करेगा? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उसने तो कोई अपराध नहीं किया। उसने तो पूर्णिमा को पत्र नहीं लिखा। पूर्णिमा ने उसे पत्र लिखा है, तो इसमें उसका क्या दोष है? नहीं, इसमें उसका कोई दोष नहीं। फिर भोला उससे रुष्ट क्यों होगा? नहीं, वह रुष्ट न होगा।

इस तरह उसकी शंका तो शान्त हो गई, किन्तु उसके हृदय से खटक दूर न हुई। इस खेल का अंत क्या होगा ? इसका अंत दुखद होगा ? अवश्य दुखद होगा ! जो भाग्यहीन् है, उसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं प्राप्त हो सकता। फिर ऐसे भाग्यहीन व्यक्ति के साथ पूर्णिमा नाता क्यों जोड़ रही है ? हाँ, उसमें कौन-सी खूबी है ? नहीं, कोई नहीं। वह दरिद्र है, माता-पिता से वह वंचित है और वह विशेष पढ़ा-लिखा भी नहीं है। और वह...दोगला है। पूर्णिमा क्या यह सब नहीं जानती ? जानती है, अवश्य जानती है। फिर वह उसे दुतकार क्यों नहीं देती ? ओह ! पूर्णिमा कितनी भोली है !

१६

शाम के छः बज चुके थे। पार्क नगर-निवासियों से खचाखच भरा था। जो लोग बैठे थे उनके लिए आराम से बैठे रहना कठिन हो रहा था। जो खड़े थे, वे धक्कम-धक्का कर रहे थे। जिन लोगों को नीचे बैठने का स्थान न मिला था, पेड़ों या चहारदीवारी पर आसीन थे। किन्तु जो अभाग्यवश, इसमें भी सफल न हो सके थे, वे बाहर सड़कों पर खड़े थे या टहल रहे थे। यह सब होते हुए भी चारों ओर से भीड़ चली ही आती थी। पार्क के मध्य में एक विशाल मंच बनाया गया था। उस सुसज्जित मंच पर स्थानीय नेतागण आ-आ कर बैठने लगे थे। मंच की सीढ़ियों पर स्वयंसेवक राष्ट्रीय झंडे लिये हुए स्थिर खड़े थे। मंच के समीप ही भोला और दुर्गा भी जमीन पर बैठे हुए धीरे-धीरे बातें कर रहे थे।

उस विराट सभा में साहस था, उत्साह था, भावुकता थी, उत्सुकता थी, किन्तु उसमें गाम्भीर्य न था, दृढ़ता न थी, शान्ति न थी, सन्तोष न था। उसकी दशा वेग से बढ़ती हुई नदी के समान थी, जिसमें अतुलनीय शक्ति होती है, किन्तु सुसंगठित प्रवाह नहीं।

वायुमंडल में विचित्र कोलाहल गूँज रहा था। श्रोताओं की व्यग्रता प्रतिक्षण बढ़ रही थी। इधर-उधर खड़े हुए स्वयंसेवक लोगों से चुपचाप बैठे रहने का अनुरोध कर रहे थे, किन्तु उनकी कोई न सुनता था।

तब एक स्थानीय नेता पं० हरिदत्त शर्मा मंच पर खड़े हो गये और हाथों को हिला-हिला कर, चारों ओर घूम-घूम कर श्रोताओं को शान्त हो जाने का आदेश देने लगे। थोड़ी देर में लोग चुप हो कर उत्सुकता से पंडितजी की ओर देखने लगे। पंडितजी ने कहा—"भाइयो, महात्माजी अब आया ही चाहते हैं। महात्माजी सभा में सम्मिलित होने के लिये चल पड़े हैं। उनके आने में बस दस-पाँच मिनट की देर है। आपको यह जान कर भी बेहद खुशी होगी कि श्रीमती सरोजनी नायडू भी हम लोगों को अनुगृहीत करने के लिये अभी पाँच बजे हमारे इस तुच्छ नगर में पधारी हैं।"

"सरोजिनी देवी की जय !" "महात्मा गाँधी की जय !" जयकारों की विकट ध्वनि चारों दिशाओं में गूँजने लगी। श्रोताओं का हर्ष दुगना हो गया, उत्सुकता दुगनी हो गई।

श्रोतागण जब निस्तब्ध हो गये, तो शर्माजी ने कहा—"मुझे आशा है कि श्रीमती सरोजिनी देवी भी इस सभा में पधार कर अपने ललित भाषण से हम लोगों को कृतार्थ करेंगी।

"भाइयो ! आप जानते हैं, महात्मा गाँधी हमारे असहयोग आन्दोलन के जन्मदाता हैं। महात्माजी सिद्ध हैं, साधक हैं, तपस्वी हैं, युगप्रवर्त्तक राष्ट्रवादी हैं और वह संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष हैं। उनका भाषण सुन कर आपकी आँखें खुल जायँगी, आप ज्ञान के उस दिव्य-लोक में पहुँच जायँगे, जहाँ जड़ता नहीं है, विवशता नहीं है, दयनीयता नहीं है। वहाँ चेतना है, आत्म-विश्वास है, साहस है, उत्साह है।

"हाँ, भाइयो, विश्वास कीजिये, महात्माजी का उपदेश सुन कर आपकी कायापलट हो जायगी। महात्मा गाँधी तो महात्मा हैं, लेकिन श्रीमती सरोजिनी नायडू हमारे दीन-हीन भारतवर्ष की बुलबुल हैं—संसार की सारी बुलबुलों से अधिक सुन्दर गानेवाली बुलबुल हैं।"

हाथ जोड़ कर, मुस्करा कर, धन्यवाद देकर पंडित हरिदत्त शर्मा बैठ गये। जयकारों की प्रतिध्वनियाँ अदृश्य जगत् में विलीन हो गईं। श्रोतागण निस्तब्ध हो गये।

किन्तु जनता की प्रकृति बालकों के समान होती है। बालकों की चंचलता को दबाने का प्रयत्न प्रायः निरर्थक ही सिद्ध होता है। दो-चार क्षण में निस्तब्धता भंग हो गई। कोलाहल फिर शुरू हो गया।

तब एक दूसरे स्थानीय नेता महोदय उठ कर हाथों के संकेत से लोगों को शान्त करने की चेष्टा करने लगे, किन्तु व्यग्र श्रोताओं ने उनके अनुरोध की ओर ध्यान न दिया।

"आ गये! आ गये! महात्मा गाँधी की जय! महात्मा गाँधी की जय! सरोजिनी देवी की जय! सरोजिनी देवी की जय!"

स्वयंसेवकों द्वारा बनाई हुई गली से तेजी से चल कर, मंच के समीप पहुँच कर, महात्मा गाँधी सीढ़ियों पर चढ़ने लगे। जयकारों की ध्वनि वायुमण्डल में निरन्तर गूँज रही थी। एक मिनट में महात्मा गाँधी मंच पर आसीन हो गये। श्रीमती सरोजनी नायडू भी उनके समीप आ बैठीं।

जयकारों की प्रतिध्वनियाँ जब अदृश्य जगत् में विलीन हो गईं और श्रोतागण निस्तब्ध हो गये, तब सभापति का निर्वाचन हुआ। पण्डित हरिदत्त शर्मा ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

सभापति महोदय ने उठ कर कहा—"भाइयो, भारत के सब से बड़े प्रतिनिधि और भारतवर्ष की बुलबुल का स्वागत करने के लिये मुझे यथोचित शब्दों का अभाव अनुभव हो रहा है। इसीलिये मेरी प्रार्थना है कि यदि मैं यह गुरुतर कार्य सुचारु रूप से संपादित न कर सकूँ, तो महात्माजी, श्रीमतीजी और आप लोग मुझे क्षमा करेंगे। शताब्दियों से घोर मोह-निद्रा में पड़े हुये भारतवासियों को जगाने का प्रयत्न इधर बहुत वर्षों से किया जा रहा था, किन्तु सफलता कहलाने योग्य सफलता प्राप्त न हुई थी। किन्तु दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भाइयों को मुक्ति का सन्देश सुना कर जब महात्मा गाँधी स्वदेश लौट आये, एकाएक हमारी दीन-हीन मातृभूमि का कायापलट हो गया। धुरंधर महाकवियों का विकट नाद जिन भाग्यहीन लोगों को जगाने में असमर्थ सिद्ध हुआ था, वे महात्मा की क्षीण आवाज सुन कर उठ बैठे और अपनी दुर्दशा देख कर आश्चर्य से चकित हो गये। महात्माजी की विकट आशावादिता ने भारतवासियों के मृत-प्राय हृदयों को पुनर्जीवित कर दिया। फलस्वरूप आज भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक असहयोग आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा है। रण-भेरी बज रही है। इसलिये, हमारा, आपका, सबका यह परम कर्त्तव्य है कि स्वयंसेवक बन कर अपने राष्ट्रीय झंडे के नीचे तुरन्त एकत्र हों, और अपने धर्म का पालन करें। श्रीमती सरोजिनी नायडू भारतीय स्त्रियों की सबसे बड़ी प्रतिनिधि हैं, और आप संसार की सबसे अधिक सुन्दर गानेवाली बुलबुल हैं। असहयोग आन्दोलन में आपका सम्मिलित होना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय स्त्रियाँ मर्दों से पीछे नहीं हैं। आपकी ओर से मैं श्रीमतीजी का स्वागत करता हूँ। अब मैं महात्माजी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना पुण्य सन्देश सुना कर हम लोगों को अनुग्रहीत करें।"

"महात्मा गाँधी की जय ! श्रीमती सरोजिनी नायडू की जय ! वन्दे-मातरम् !"

शर्मा जी बैठ गये । महात्मा गाँधी सामने आये । जयकारों की गगन भेदीध्वनियाँ दिशाओं में गूँजने लगीं । श्रोतागण जब निस्तब्ध हो गये, तो महात्माजी ने बोलना प्रारम्भ किया । उनके बाद श्रीमती सरोजिनी नायडू का भाषण हुआ । अन्त में पंडित हरिदत्त शर्मा फिर खड़े हुये और बोले—

"बहनों और भाइयो, महात्मा गाँधी और श्रीमती सरोजिनी नायडू के भाषणों के बाद ही भाषण देने का प्रयत्न करना अवश्य ही धृष्ठता होगी । इसलिये मैं केवल दो-चार शब्द कहना चाहता हूँ । महात्माजी के श्री-मुख से आप काँग्रेस की अपील सुन चुके हैं । आपका यह परम कर्त्तव्य है कि असहयोग आदोलन के कार्यक्रम को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करें ।"

"वन्देमातरम् ! महात्मा गाँधी की जय ! सरोजिनी देवी की जय !"

सभा विसर्जित हुई । विकट कोलाहल करते हुये लोग पार्क से बाहर निकलने लगे । किसी तरह बाहर निकल कर, दुर्गा और भोला घर की ओर जानेवाली सड़क पर चलने लगे । भोला ने मुस्कराते हुये कहा—"कैसी मीटिंग रही, दुर्गा ?"

"बड़ी शानदार मीटिंग थी, लेकिन एक बात मुझे पसन्द नहीं आई । लोग इतना गुल-गपाड़ा और धक्कम-धक्का क्यों करते हैं ?"

"इसलिये कि ये लोग जाहिल हैं ।"

"जाहिल हैं ! नहीं, सब जाहिल तो नहीं थे । पढ़े-लिखे लोग भी बहुत काफ़ी थे, लेकिन वे लोग भी धक्कम-धक्का करते थे, शोर-गुल भी करते थे । फ़ौजी सिपाहियों को देखो । पढ़े-लिखे लोग उनमें बहुत

कम होते हैं, लेकिन वे कायदे से चलते हैं, कायदे से बातचीत करते हैं।"

"यह ठीक है, दुर्गा, लेकिन ये लोग फौजी सिपाही तो नहीं हैं।"

"हाँ, ये फौजी सिपाही नहीं हैं, फिर भी अगर ये लोग शान्त रहना चाहें, तो रह सकते हैं। जब गम्भीरता की आवश्यकता हो, उस समय शान्त न रहना अच्छा नहीं लगता।"

"मेरा तो खयाल है कि लोग असहयोग आन्दोलन को खेल-तमाशा ही समझते हैं। देख लेना, इनमें से बहुत कम लोग वालंटियर बनेंगे, बहुत थोड़े लोग चन्दा देंगे।"

"तब क्या होगा? लोगों की ऐसी दशा है, तो स्वराज्य कैसे मिलेगा?"

"खैर, इस बात को जाने दो, दुर्गा! यह बताओ, महात्माजी की स्पीच कैसी थी?"

"बड़ी जोरदार स्पीच थी।"

"उनकी बातें सुनने के बाद, अब मेरी तो यह इच्छा हो रही है कि कल ही स्कूल से नाम कटा कर वालंटियर बन जाऊँ।"

"नहीं, भोला, हम लोगों का यह समय बड़ा कीमती है, इसे गँवा देना ठीक नहीं। हमें पढ़ते रहना चाहिये।"

"देश अगर गुलाम बना रहा, तो पढ़ कर क्या होगा?"

"अनपढ़ गुलाम से पढ़ा-लिखा गुलाम भी अच्छा ही होता है। हम लोगों के लिये यह काम नहीं है, यह उन लोगों के लिये है जो पढ़-लिख कर पक्के हो चुके हैं, पूरे जवान हो चुके हैं।"

"लड़के क्या सिपाही नहीं बन सकते?"

"सिपाही बन सकते हैं, लेकिन पक्के सिपाही नहीं बन सकते।"

"तो हमारी वानर-सेना कुछ नहीं कर सकती ?"

"हुल्लड़बाजी कर सकती है, लेकिन हुल्लड़बाजी से आजादी तो नहीं मिल सकती।"

"यह सब तो ठीक कहते हो, दुर्गा, लेकिन दिल यही चाहता है कि देश के लिये अभी जान दे दूँ।"

"जोश की बातें सुनने से जोश आता है, लेकिन बिना समझे-बूझे जोश की धारा में बह जाना उचित नहीं।"

भोला गहरे विचारों में डूब गया। दुर्गा भी विचारों में मग्न चुपचाप चलता रहा। दोनों के हृदयों में आवेश तथा विवेक के बीच द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। एक पावन, किन्तु अपरिमित पथ सामने था। भोला उस पर दौड़ कर जाना चाहता था, किन्तु दुर्गा के शब्द मार्ग को रोके खड़े थे। दुर्गा भी उस पार जाना चाहता था, किन्तु वह जानता था कि उस कंटकाकीर्ण पथ पर चलने की योग्यता प्राप्त किये बिना उस पर चला नहीं जा सकता।

"देश से प्रेम करना क्या बुरा है, दुर्गा ?"

"देश-प्रेम से बढ़ कर कोई भाव नहीं, किन्तु इस पवित्र भाव के बीज को हृदय की भूमि में बोकर उसे अंकुर फोड़ने और उगने का समय देना चाहिये।"

प्रशंसासूचक दृष्टि से एक बार मित्र के चेहरे की ओर देख कर, सिर झुका कर, भोला फिर विचारों में खो गया।...

रात के ग्यारह बज चुके थे। भोला के कमरे में दुर्गा, विचारों में व्यस्त, आरामकुरसी पर पड़ा हुआ था।

सहसा पूर्णिमा ने कमरे में प्रवेश किया। उसके उत्फुल्ल मुख-मण्डल पर लज्जा की लालिमा थी। दृष्टि उठा कर, दुर्गा ने उसकी ओर देखा,

तो उसके चेहरे पर लालिमा दौड़ गई। सिर झुका कर वह फ़र्श की ओर ताकने लगा।

दुर्गा के सामने एक कुरसी पर बैठ कर पूर्णिमा ने कहा—"मेरा खत आपने पढ़ा ?"

"हाँ, पढ़ लिया। धन्यवाद !"

"तो मेरे सवाल का आप क्या जवाब देते हैं ?"

"किस सवाल का ?"

"यहाँ रहने के सवाल का।"

"अभी मैं...यह नहीं तय कर पाया हूँ कि तुम्हारे सवाल का क्या जवाब दूँ।"

पूर्णिमा निस्तब्ध बैठी रही।

तीन-चार क्षण के बाद सिर उठा कर पूर्णिमा की ओर देखते हुए दुर्गा ने कहा—"वह रुपये तुमने मुझे क्यों दिये हैं, पूर्णिमा ?"

"इसलिये कि आपको रुपयों की जरूरत थी।"

"लेकिन मैंने जरूरत की बात तो तुमसे नहीं कही थी।"

"हाँ, आपने कहना पसन्द नहीं किया, इसलिए मुख से नहीं कहा। मेरे कानों ने आपकी जरूरत की बात नहीं सुनी, लेकिन आँखों ने तो देख लिया।"

सिर झुका कर, दुर्गा मुस्कराता हुआ फ़र्श की ओर ताकने लगा। पूर्णिमा के शब्दों में जो विचारशीलता थी, सहृदयता थी, उसने उसके मन पर, आत्मा पर पूरी तरह आधिपत्य जमा लिया।

पूर्णिमा ने उठ कर कहा—"अब मैं जाती हूँ।"

दुर्गा ने दृष्टि उठा कर देखा, पूर्णिमा का मुख-मण्डल विजय-गर्व से

चमक रहा था। उसने कहा—"जो एहसान के बोझ से दबा हो, उसके ऊपर बराबर एहसान लादते जाना क्या उचित है ?"

"जो एहसान नहीं है, उसे एहसान समझना आपकी भूल है।"

फिर निरुत्तर होकर दुर्गा फ़र्श की ओर ताकने लगा। पूर्णिमा मुस्कराती हुई धीरे-धीरे कमरे के बाहर चली गई।

२०

आधी रात बीत चुकी थी, लेकिन दुर्गा की आँखों में नींद न थी। अँधेरे कमरे में पलंग पर पड़ा हुआ, वह करवटें बदल रहा था। विगत दिवस की घटनाओं के चित्र उसकी आँखों के सामने आ-जा रहे थे। कभी क्रोधातुर होकर सोहनलाल के मुख पर थप्पड़ों की वर्षा करते हुये भोला का चित्र दिखाई देता, कभी फ़र्श पर अस्त-व्यस्त पड़े हुये सोहनलाल का, कभी सभा में धक्कम-धक्का करते हुये श्रोताओं का, कभी गम्भीरता-पूर्ण भाषण करते हुये महात्मा गाँधी का, कभी बुलबुल की तरह चहकती हुई सरोजिनी नायडू का, कभी विजय-गर्व से मुस्कराती हुई पूर्णिमा का। हाँ, ये चित्र बार-बार उसके सामने फिर रहे थे और उसके आन्दोलित हृदय में विविध भावनायें बारी-बारी से उठ-उठ कर नृत्य कर रही थीं। फिर उसे नींद कैसे आती!

पलंग पर पड़ा रहना कठिन हो गया। तब वह बिस्तर छोड़ कर आरामकुरसी पर जा लेटा। सामने खुली हुई खिड़की से वाटिका का दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा था। चन्द्रमा का क्षीण प्रकाश वाटिका में फैला

हुआ था। निर्मल आकाश के उस छोटे-से टुकड़े में लगी हुई चार-पाँच तारिकाएँ मन्द-मन्द मुस्करा रही थीं। वृक्ष निस्तब्ध खड़े हुए थे। रात्रि की विचित्र मन्द ध्वनियाँ दिशाओं में गूँज रही थीं। उस विचित्र दृश्य में विचित्र आकर्षण था।

कुरसी से उठ कर, दुर्गा खिड़की के समीप जा खड़ा हुआ और वाटिका का दृश्य देखने लगा। आत्म-विस्मृत की दशा में वह कितनी देर तक निश्चल खड़ा रहा, यह उसे ज्ञात न हुआ।

सहसा उल्लू की चीख सुनाई दी। वह चौंक पड़ा, आत्म-विस्मृत की दशा भंग हो गई। किन्तु वह उसी तरह खड़ा हुआ वाटिका की ओर देखता रहा। एकाएक उसकी दृष्टि उस ओर खड़े हुये नीम के पेड़ पर जम गई। उसके समीप दो आदमी खड़े हुये बातें कर रहे थे। वे कौन हैं, और वहाँ क्या कर रहे हैं? उन दोनों की ओर एकटक देखता हुआ वह अपना प्रश्न हल करने की चेष्टा करने लगा। दो-तीन क्षण में वे धीरे-धीरे चलने लगे। वे कहाँ जा रहे हैं? इधर सायबान की तरफ़ आ रहे हैं! क्यों आ रहे हैं इधर? चोर हैं क्या?

दायें-बायें देखते, सावधानी से धीरे-धीरे आगे बढ़ कर वे बरामदे के निकट आ पहुँचे। खिड़की से हट कर, धीरे से कमरे का दरवाजा खोल कर, दुर्गा बाहर झाँकने लगा। एँ! वे तो बरामदे में आ गये! एक लम्बे कद का है, दूसरा नाटा है। वे सिर्फ धोती और मिर्जई पहिने हुए हैं। अपने-अपने हाथों में दोनों क्या चीजें लिये हुये हैं? अब क्या करना चाहिये? ठाकुर कहाँ है? आज वह पहरा क्यों नहीं दे रहा है? वे अन्दर घुस रहे हैं।

"जागते रहो!" चौकीदार की तीव्र आवाज एकाएक दिशाओं में गूँज उठी। यह तो ठाकुर की आवाज है? हाँ उसी की आवाज तो है।

शीघ्रता से दरवाजा खोल कर, वह झपट कर बाहर निकला, बर ाम नीचे कूदा और उस ओर वेग से दौड़ा जिधर से ठाकुर की आवाज आई थी। कहाँ है वह ?

"जागते रहो !" हाँ, उधर है। तीन-चार क्षण में वह फाटक के समीप पहुँच गया। हाथ में लट्ठ लिये, फाटक पर निस्तब्ध खड़ा हुआ, ठाकुर सड़क की ओर देख रहा था।

"ठाकुर !"

मुड़ कर चौकीदार ने उसकी ओर देखा।

"क्या है, भैया ?"

"जल्दी दौड़ो, बँगले में चोर घुस आये हैं।"

"चोर घुस आये हैं ! किधर गये हैं, भैया ?"

"अभी अन्दर घुसे हैं।"

"आओ, भैया !" लट्ठ सँभाल कर ठाकुर सायवान की ओर दौड़ा। हाँफता हुआ दुर्गा भी उसके पीछे दौड़ा।

एक मिनट में दोनों बरामदे में पहुँच गये। ठाकुर ने धीरे से पूछा — "अन्दर गये हैं न, भैया ? कै आदमी थे ?"

"दो थे। मैंने दोनों को अन्दर घुसते देखा था।"

"अच्छा, मैं आगे चलता हूँ, आप मेरे पीछे-पीछे आओ। डर तो नहीं लग रहा है ?"

"नहीं चलो, चलो।"

तब वे धीरे-धीरे अन्दर घुसे। जनानखाने के बरामदे में पहुँच कर, ठिठक कर वे आहट लेने लगे। कोई आवाज सुनाई न दी, कोई दिखा न दिया। क्षण-पर-क्षण बीतने लगे।

सहसा सुभद्रा देवी के शयन-कक्ष से एक चोर निकला और इधर-

उधर देखने लगा। तुरन्त ठाकुर उसकी ओर झपटा। ठाकुर को अपनी ओर आते देख कर, वह सहन में कूद पड़ा, किन्तु ठाकुर उससे ज्यादा होशियार और तेज था। सहन में कूदकर, उसके समीप पहुँच कर ठाकुर ने जोर से लट्ठ चलाया। कंधे पर चोट खाकर, चीख मार कर धड़ाके का शब्द करता हुआ, चोर पक्के फ़र्श पर गिर पड़ा। उसके बगल में दबी हुई सन्दूक झनझना कर एक ओर लुढ़क गई।

"चोर! चोर!"

दूसरा चोर भी शयनागर से बाहर निकल चुका था। अपने साथी की दुर्दशा देख कर वह बरामदे में उस ओर भागा, जिधर दुर्गा खड़ा था और जहाँ बाहर जाने का रास्ता था। दुर्गा दीवार से सट कर खड़ा हो गया। चोर समीप आ गया। अब वह बाहर जा रहा था। एकाएक लपक कर, झुक कर, दुर्गा ने उसकी टाँग पकड़ ली, और जोर से अपनी ओर खींचा। चीख मार कर वह चोर भी धड़ाके का शब्द करता हुआ मुँह के बल गिर पड़ा।

"दौड़ो, ठाकुर! दूसरा चोर यहाँ है।"

"आया, भैया!"

पहले के हाथ-पैर अपने साफे से बाँध कर, ठाकुर दूसरे के समीप जा पहुँचा।

"चोर! चोर!" दुर्गा की सहायता से ठाकुर दूसरे के हाथ उसकी धोती से बाँधने लगा।

"चोर! चोर!"

खलबली मच गई। जाग कर, बाबू सिद्धनाथ, सुभद्रा देवी, पूर्णिमा, भोला, दास-दासियाँ, सब आ पहुँचे। भाँति-भाँति के प्रश्न किये जाने लगे।

"मुये कोठी में कैसे घुस आये ?"

"के चोर हैं ?"

"कुछ गया तो नहीं ?"

"ये पकड़े कैसे गये ?"

"तुम भी ठाकुर के साथ थे क्या, दुर्गा ?"

"ठाकुर, तुमने चोरों को घुसते देख लिया था क्या ?"

ठाकुर ने झल्ला कर कहा—"खड़े-खड़े सवाल करते रहोगे ननकू या कोई काम भी करोगे ? दौड़ कर एक रस्सी ले आओ।"

"अच्छा, ठाकुर, अभी लाता हूँ।" ननकू शीघ्रता से उस ओर चला गया।

तब उत्सुक स्वर में बाबू सिद्धनाथ ने कहा—"ठाकुर, अब फ़ौरन सारा हाल कहो।"

अदब से मालिक की ओर देख कर ठाकुर ने कहा—"हुज़ूर ! मैं फाटक पर पहरा दे रहा था। एकाएक दुर्गा बाबू दौड़ते हुये मेरे पास आये और घबरा कर हमसे कहा कि कोठी में चोर घुसे हैं। यह सुन कर मैं भी घबरा उठा। हम दोनों जने दौड़ कर भीतर आये। यहाँ दालान में आकर हम लोग आहट लेने लगे। इतने में वह लम्बा चोर सन्दूक लेकर बहूजी के कमरे से बाहर निकला। मैं उसकी तरफ़ झपटा। वह आँगन में कूद पड़ा। मैं भी कूद पड़ा और उसके पास पहुँच कर तड़ाक से लट्ठ जमाया। चोट खाकर वह लम्बा चोर ढेर हो गया। तब अपने साफे से मैं उसे कस कर बाँधने लगा। इतने में दुर्गा बाबू चिल्लाये, 'दौड़ो ठाकुर, दूसरा चोर यहाँ है।' लम्बे चोर को अच्छी तरह कस कर बाँध कर जब मैं पहुँचा और रोशनी जलाई, तो क्या देखता हूँ कि दुर्गा बाबू नाटे चोर की पीठ पर सवार हैं !"

"दुर्गा नाटे चोर की पीठ पर सवार था, ठाकुर ! यह उसने कैसे किया ?"

"सरकार ! यह दुर्गा बाबू से पूछा जाय। मैं तो उसे बाँधने-बूँधने में लग गया, इसलिए पूछा नहीं।"

"हा-हा-हा-हा ! क्यों दुर्गा, तुमने कैसे इस चोर के ऊपर सवारी गाँठी ? बोलो बेटा !"

दो क्षण निस्तब्ध रह कर, दुर्गा ने मुस्कराते हुये धीरे-धीरे कहा—"जब ठाकुर लम्बे चोर के पीछे आँगन में झपटे, तो यह नाटा चोर वह सन्दूक लिये हुये माताजी के कमरे से निकला। यह मेरी तरफ दौड़ता हुआ आया। मैं दीवार से सट कर खड़ा हो गया। जब यह बाहर जाने लगा, तो मैंने इसकी दाहिनी टाँग पकड़ ली और जोर से खींचा। यह चिल्लाकर मुँह के बल गिर पड़ा। तब मैं इसकी पीठ पर इसलिये सवार हो गया कि यह उठ कर भाग न जाय !"

"शाबाश, बेटा, शाबाश ! मैं नहीं जानता था कि तुम इतने होशियार लड़के हो ! शाबाश ! अच्छा, अब यह तो बताओ कि तुमने चोरों को कैसे देख लिया ?"

संकोचवश कई क्षण तक निस्तब्ध रह कर दुर्गा ने लज्जापूर्ण स्वर में धीरे-धीरे वह हाल भी कह सुनाया।

हर्ष और स्नेह से गदगद होकर उसके सिर और पीठ पर हाथ फेरते हुये सुभद्रा देवी ने कहा—"तुम्हारी माता धन्य है, जिसने तुम्हें जन्म दिया ! शाबाश, बेटा। आज तुम यहाँ न होते, तो हम लोग लुट जाते !"

उजागिर की ओर देख कर बाबू साहब ने कहा—"देखो, उजागिर, राजाराम को साथ लेकर फ़ौरन थाने में इत्तला करो !"

"बहुत अच्छा, सरकार !"

पानी भरने की रस्सी लेकर ननकू आ पहुँचा। तब उसकी सहायता से ठाकुर चोरों के हाथ-पैर बाँधने लगा।

"चोर के ऊपर सवारी गाँठने की एक ही रही !" दुर्गा के गले से लिपट कर भोला ने कहा—"वाह, भाई, वाह !"

सिर झुका कर दुर्गा मुस्कराने लगा।

"ही-ही-ही-ही !"

तब दोनों मित्रों का ध्यान चोरों की ओर आकृष्ट हुआ। दोनों चोर आँखें बन्द किये हुये गुम-सुम पड़े थे।

लम्बे चोर का कान जोर से खींच कर ननकू ने कहा—"आँखें खोलो, बच्चा ! जान निकल गई क्या ? खोल आँख, नहीं तो थप्पड़ जमाता हूँ !"

डर से काँप कर चोर ने आँखें खोल दीं।

"ही-ही-ही-ही ! कितना माल हाथ लगा, उस्ताद ? लाओ, कुछ दान-वान !"

"हा-हा-हा-हा !"

चोर ने फिर आँखें बन्द कर लीं। ननकू फिर उसके कान ऐंठने लगा। ठाकुर ने हँसते हुये कहा—"जाने दो ननकू, अब बेचारे को थोड़ी देर आराम कर लेने दो ! बेचारे ने बड़ी मेहनत की है ! अभी सालों जेल में मशक्कत करनी पड़ेगी !"

भोला और दुर्गा भी हँसने लगे। पूर्णिमा ने पिता का हाथ पकड़ कर कहा—"पापा देखो, नाटे चोर के मत्थे से खून बह रहा है।"

"खून बह रहा है ? हाँ, बह तो रहा है, लेकिन बहुत थोड़ा। बहने

दो। थोड़ा-बहुत बह ही जायगा, तो उसका क्या बिगड़ेगा? मुफ्त का माल खा-खा कर कैसा मोटा पड़ गया है।"

"हा-हा-हा-हा।"

सब लोग कहकहे लगाने लगे, किन्तु पूर्णिमा गम्भीर खड़ी रही। न जाने क्यों, उसके हृदय में उस चोर के प्रति दया उमड़ रही थी। सामूहिक अवहेलना का उसे भय न होता, तो वह अवश्य उसके माथे पर पट्टी बाँध देती।

आधा घंटा बीत गया। हिम्मतगंज के थानेदार साहब पाँच सिपाहियों के साथ आ पहुँचे। जाँच-पड़ताल शुरू हुई।

रिपोर्ट और बाबू साहब, दुर्गा और ठाकुर के बयानात लिख कर चोरों को साथ लेकर, जब पुलिसवाले चले गये, तो भोला और दुर्गा अपनी बैठक की ओर चले। उस समय पाँच बज चुके थे। निशा देवी अपनी धुँधली चद्दर समेट रही थीं। उषा की क्षीण लालिमा क्षितिज के परदे से छन-छन कर निकलने लगी थी।

"अब इस वक्त सोने से क्या फायदा? सवेरा हो रहा है।"

"हाँ, भोला, अभी सोना फ़िजूल है। अब इसी वक्त नहा-धो लेना चाहिये।"

"ठीक कहते हो, दुर्गा, नहाने के बाद सोने से तबीयत खराब न होगी।"

"मैंने तो सोचा था कि आज सवेरे ही काँग्रेस के दफ्तर में जाकर स्वयंसेवक बन जाऊँगा, लेकिन अब तो इस वक्त जाना मुश्किल मालूम होता है।"

"हाँ, इस वक्त कहीं जाना ठीक नहीं। जाने दो, कल दोनों आदमी साथ चलेंगे।"

"अच्छी बात है।"

दिन का तीसरा पहर था। आकाश में उड़ते हुये बादलों की सुखद छाया चारों ओर फैली हुई थी। सुखद बयार बह रही थी। श्रीमती सुभद्रा देवी और बाबू सिद्धनाथ अपने ड्राइंग-रूम में बैठे वार्त्तालाप कर रहे थे। उनके हर्ष और सन्तोष का ठिकाना न था।

बाबू सिद्धनाथ ने कहा—"दरोगा साहब कहते थे, और मेरा भी यही ख्याल है कि इस मामले में किसी नौकर की साजिश थी।"

"ठीक है, जरूर किसी नौकर की साजिश रही होगी।"

"अगर यह बात न होती, तो चोर इतनी जल्दी माल का ठीक पता-ठिकाना न पा सकते।"

"नहीं, हर्गिज न पाते। देखो न, उन लोगों ने और कुछ नहीं छुआ, वही सन्दूकें लीं जिनमें गहने और रुपये रखे हुये थे। बड़ी खैरियत हुई कि दुर्गा जाग रहा था। वह न जागता होता, तो हम लोग साफ़ लुट जाते।"

"अजीब लड़का है, दुर्गा। ऐसा सीधा, ऐसा सच्चा और ऐसा होशियार लड़का मैंने आज तक कहीं नहीं देखा। उसका एहसान हम लोग कभी नहीं भूल सकते!"

"हाँ, उसका एहसान हम लोग कभी नहीं भूल सकते। उसके पास शायद कपड़े काफ़ी नहीं हैं, खरीद देना चाहिये!"

"कपड़े काफ़ी नहीं हैं! यह तुम्हें पहले ही मुझसे कहना चाहिये था। खैर, हो सका, तो आज ही उसके लिये काफ़ी कपड़े खरीद दूँगा।"

"हाँ, आज ही खरीद दो।...यह कैसे पता चलेगा कि इस मामले में किस नौकर की साजिश थी?"

"पुलिसवालों के सिवा और कौन इस बात का पता लगा सकता है? वही लोग किसी तरह पता लगायेंगे।"

"हाँ, ठीक कहते हो, वही लोग पता लगायेंगे। जरा ठाकुर से ताकीद कर दो कि अब ज्यादा होशियार रहा करे। अगर अकेला वह काफ़ी न हो, तो एक चौकीदार और रख लो?"

"नहीं, ठाकुर बड़ा होशियार आदमी है, और वह काफ़ी है। वह बेचारा क्या करे, हर जगह तो वह एक ही समय में रह नहीं सकता। वह तो फाटक पर था, इधर चोर बाग के रास्ते से घुस आये। मैं तो यह सोच रहा हूँ कि कोई ऐसा तरीका निकाला जाय कि चोरी हो जाने का डर ही न रहे!"

"चोरी का डर ही न रहे! होगा तो यह बहुत अच्छा, लेकिन इसका उपाय क्या है?"

"इसका सिर्फ़ एक उपाय है—गहने और रुपये घर में न रखे जायँ!"

"घर में न रखे जायँ! तो फिर कहाँ रखे जायँ?"

"बैंक में जमा कर दिये जायँ?"

"हाँ, है तो यह ठीक। लेकिन जरूरत पड़ेगी, तो क्या करूँगी?"

"जरूरत पड़ने पर निकाल लिया करना। सिर्फ़ दो चार गहने और थोड़े से रुपये घर में रखो, बाकी सब बैंक में जमा कर दो।"

"हाँ, लुट जाने से तो यही अच्छा है! अच्छी बात है, जमा कर दो।"

"कल मैं खुद बैंक में जाकर जमा कर आऊँगा।"...

सन्ध्या के सात बज चुके थे। बाबू सिद्धनाथ की मोटर शहर की ओर तेजी के साथ चली जा रही थी। बाबू साहब के बगल में दुर्गा अदब से बैठा हुआ था। वृष्टि-जल से नहाई हुई सड़क विद्युत-प्रकाश से जगमगा रही थी। शीतल बयार वेग से बह रही थी।

मोटर चौक में घुसी। विद्युत-प्रकाश से आलोकित लम्बी-चौड़ी सड़क, जगमगाती हुई छोटी-बड़ी दुकानें! अनवरत क्रय-विक्रय! पटरियों पर आते-जाते सहस्त्रों सम्पन्न, दरिद्र, प्रसन्न, दुखी, शान्त, चिन्तित, उद्यमी, आलसी, वृद्ध, युवक, बालक! विचित्र समुदाय! विचित्र हाट—भौतिक विभूतियों का विचित्र क्रीड़ा-स्थल!

"यहीं रोको, राजाराम!"

"बहुत अच्छा, सरकार।"

धीमी होकर, रुक कर, मोटर भक-भक करने लगी।

"नहीं, राजाराम, आगे बढ़ो!"

"बहुत अच्छा, सरकार!"

'पों! पों! पों...ओ—!' रास्ता पाकर मोटर आगे बढ़ी।

"दुर्गा!"

"जी हाँ!"

"यहाँ क्यों आये हो, जानते हो?"

"जी नहीं!"

"हा-हा-हा-हा! यहाँ आये हो, लेकिन यह नहीं जानते कि क्यों आये हो?"

निरुत्तर होकर, सिर झुका कर दुर्गा मुस्कराता हुआ निस्तब्ध बैठा रहा।

"अच्छा, सुनो दुर्गा, तुम्हें यहाँ कपड़े खरीदने हैं!"

"कपड़े खरीदने हैं ?"

"हाँ।"

"मेरे पास कपड़े तो काफ़ी है, पापा ?"

"काफ़ी हैं ?"

"जी हाँ !"

"हा-हा-हा-हा ! अच्छा, दुर्गा, तुम बतलाओ, तुम्हारे पास कितने कपड़े हैं ?"

"तीन कुरते हैं, तीन धोतियाँ, दो अँगौछे, दो टोपियाँ !"

"बस । हा-हा-हा-हा ! तुम बड़े सीधे लड़के हो, दुर्गा । अब तुम सभ्य हो गये हो—यह तुम जानते हो कि नहीं, बेटा ?"

आश्चर्य-जनक दृष्टि से दुर्गा बाबू साहब के चेहरे की ओर ताकने लगा ।

"नहीं जानते ! अच्छा सुनो, अब तुम सभ्य हो गये हो । सभ्य व्यक्ति के लिये उतने कपड़े काफ़ी नहीं हैं, जितने इस वक्त तुम्हारे पास हैं । सभ्य व्यक्ति के लिये कम-से-कम दो दर्जन धोतियाँ चाहिये, दो दर्जन कमीजें, एक दर्जन सूट, शेरवानियाँ, एक दर्जन पायजामें, दो दो दर्जन मोजे, दो दर्जन रूमाल, दो दर्जन कालर, एक दर्जन टाइयाँ, एक दर्जन हैट और टोपियाँ ! फेहरिस्त यहीं पर खत्म नहीं होगी—जूते, सेफ्टीपिंस, टाई क्लिपें, वगैरा, वगैरा अलग !"

"यह सब लेकर मैं क्या करूँगा पापा ?" दुर्गा ने घबरा कर कहा ।

"हा-हा-हा-हा ! यह सब न लोगे बेटा, तो तुम्हें सभ्य कोई न कहेगा !"

"मैं सभ्य नहीं बनना चाहता, पापा !"

"सभ्य बनना नहीं चाहते ? हा-हा-हा-हा ! तो क्या हमेशा गँवार, जंगली बने रहोगे ?"

"गँवार होना क्या कोई पाप है, पापा ?" विस्मित दृष्टि से बाबू साहब की ओर देखते हुए दुर्गा ने पूछा।

"नहीं, बेटा, नहीं ! मैं मजाक कर रहा था। चलो, जो कुछ चाहना, ले लेना।"

"आपकी इच्छा ही है पापा, तो मेरे लिये खद्दर खरीद दीजिये !"

"खद्दर लोगे !"

"जी हाँ !"

"खद्दर तो ठीक न होगा, बेटा। देशी मिलों में बने हुए कपड़े लो—बड़े नफ़ीस होते हैं।"

"नहीं, पापा, अब मैं सिर्फ खद्दर पहिनूँगा और कुछ नहीं !"

"अच्छा, खद्दर ही लेना ! मेरी ख्वाहिश तो यही थी कि नफ़ीस कपड़े लो, लेकिन तुम नहीं मानते, तो क्या इलाज है ?"

"खद्दर भी नफ़ीस होता है, पापा !"

"खद्दर नफ़ीस होता है ! हा-हा-हा-हा ! तुम सभ्य बनने के लायक नहीं हो, दुर्गा ! हा-हा-हा-हा ! राजाराम, खद्दर भण्डार चलो।"

"अच्छा, सरकार।"

खद्दर भण्डार सामने आ गया। गले मिलती हुई दो राष्ट्रीय झंडियों के बीच में लगा हुआ विद्युत-प्रकाश से आलोकित साइन-बोर्ड दृष्टिगोचर हुआ।

'पों ! पों ! पों !' मोटर धीमी हुई, रुकी, फिर खामोश हो गई।

तुरन्त दरवाजा खोल कर दुर्गा उतर पड़ा। फिर बाबू साहब मुस्कराते हुये उतरे। दो क्षण में वे दूकान में थे।

भीतर वही सुरुचि थी, वही सादगी थी, जो बाहर दृष्टिगोचर हुई थी। हाथ के कते सूत से हाथ से बुने हुये भाँति-भाँति के सूती-रेशमी कपड़ों से भरी हुई शीशे की आलमारियाँ चारों दीवारों के सहारे खड़ी हुई गम्भीर दृष्टियों से ग्राहकों की ओर ताक रही थीं। साफ, सफेद फ़र्श पर दस-पन्द्रह ग्राहक बैठे हुये कपड़े देख रहे थे। तीन-चार कार्यकर्त्ता माल दिखा रहे थे। एक महाशय एक ओर डेस्क के सामने बैठे हिसाब लिख रहे थे। मन्त्रमुग्ध दृष्टियों से यह देखते हुये बाबू साहब और दुर्गा एक ओर निस्तब्ध खड़े थे।

एक कार्यकर्त्ता उठ कर लोगों के समीप आया और विनय-पूर्ण स्वर में बोला—"बैठिये, महाशय, आपको क्या चाहिये ?"

"खद्दर दिखलाइये, कुरतों के लिये। और देखिये, हो तो रेशम भी निकालिये।"

"जी हाँ कई तरह का रेशमी खद्दर भी यहाँ है। इतमीनान से बैठिये अभी कपड़े लाता हूँ।"

बाबू साहब और दुर्गा फिर इधर-उधर देखने में तल्लीन हो गये। एक कार्यकर्त्ता महाशय और दो-तीन ग्राहक गरदनें मोड़-मोड़ कर बाबू साहब की ओर ताकने लगे। उन दृष्टियों में विस्मय था, किंचित् हर्ष था और था यह प्रश्न—'आप यहाँ कैसे, महाशय !' बाबू साहब एक आलमारी की ओर देख रहे थे, किन्तु उन कौतूहलपूर्ण दृष्टियों का ज्ञान उन्हें तुरन्त हो गया और उन दृष्टियों का वह प्रश्न भी उनके मस्तिष्क में गूँज उठा। उनके वस्त्र उस स्थान के वातावरण से मेल नहीं खाते, यह बात सोच कर, उनका हृदय लज्जा से भर गया। आलमारी से दृष्टि हटा कर, वह फ़र्श की ओर ताकने लगे।

वह कार्यकर्त्ता गठरियाँ लिये हुये आ पहुँचा। गठरियाँ खुलीं। एक

में सूती खद्दर के दस थान थे, दूसरी में रेशमी खद्दर के आठ थान थे। कपड़े देख कर दोनों ग्राहकों की बाछें खिल गईं। एक-एक करके कार्यकर्त्ता ने सब थान दिखलाये, प्रत्येक की विशेषतायें बतलाईं।

"देखो, दुर्गा, यह थान कैसा है ? तुम्हें पसन्द है ?"

"बहुत अच्छा है ! मुझे पसन्द है।"

"यह थान कै गज का है, महाशय ?"

"यह...२० गज का है, जनाब।"

"अच्छा, इसे दे दीजिये। और यह रेशमी थान कै गज का है ?"

"यह...१६ गज का है। आसाम का बना हुआ।"

"इसे भी दे दीजिये। आपके यहाँ धोतियाँ भी हैं ?"

"जी हाँ, बहुत हैं। कैसी धोतियाँ निकालूँ ?"

"जरा महीन सूत की हों।"

"बहुत अच्छा। और क्या-क्या लेता आऊँ ?"

"रूमाल, तौलियाँ और टोपियाँ भी दिखलाइये।"

"बहुत अच्छा, महाशय।" वह चला गया।

बाबू साहब और दुर्गा फिर इधर-इ धर ताकने लगे।

आध घंटे के बाद मोटी गठरी लेकर जब दुर्गा, बाबू साहब के साथ दूकान से बाहर निकला, तो उस के हर्ष और सन्तोष का ठिकाना न था। उस गठरी में तेरह कुरतों और एक दर्जन बनियाइनों के कपड़े थे, एक दर्जन नफ़ीस धोतियाँ थीं, एक दर्जन रूमाल थे, एक दर्जन टोपियाँ थीं। एक साथ इतने और इतने अच्छे कपड़े ! दुर्गा के हर्ष और सन्तोष में गर्व भी आ मिला।

राजाराम ने मोटर का दरवाजा खोला। वे तुरन्त सवार हुये। अपने स्थान पर बैठ कर पुर्जे दबाते हुये राजाराम ने पूछा—"अब घर चलूँ न, सरकार ?

"हाँ।"

क्षण भर चुप रह कर बाबू साहब बोले—"दुर्गा!"

"जी हाँ!"

"कपड़े इसी वक्त सिलने के लिये दोगे?"

"अब इस वक्त तो काफ़ी देर हो चुकी है, पापा! आज रहने दीजिये, कल दे दिये जायँगे।"

"अच्छा, इस वक्त रहने दो।"

जगमगाती हुई सड़क पर चलते-फिरते राहगीरों की भीड़ अब छँट चली थी। भौतिक विभूतियों के उस हाट में शिथिलता आ चली थी। विचारशीलता बोरिया-बसना सँभाल रही थी, विचारहीनता महफ़िल सजाने लगी थी! चारों ओर रँगरेलियाँ खड़ी थीं।

२१

उस दिन उस तरह भोला के द्वारा अपमानित होने के बाद सोहनलाल ने भोला के घर जाने का साहस तो नहीं किया, किन्तु उसके हृदय में प्रतिकार की अग्नि दहकती रही। वह बदला लेना चाहता था भोला से, पूर्णिमा से, दुर्गा से। अपमान का बदला अपमान है। नहीं, अपमान से भी अधिक कठोर बात। यही वह करेगा। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, त्यों-त्यों उसका यह भाव दो की ओर से हटता गया और धीरे-धीरे केवल एक पर केंद्रित हो गया। वह व्यक्ति था दुर्गा। पूर्णिमा उससे अप्रसन्न नहीं थी, फिर उसने उसकी अवहेलना क्यों की ? दुर्गा के कारण। भोला से वह कितनी मित्रता बढ़ा चुका था, फिर एक साधारण अपराध के कारण उसने उसका वैसा अपमान क्यों किया ? दुर्गा के कारण। हो न हो, सारे फ़साद की जड़ दुर्गा है। जिस व्यक्ति का अपना भी कुछ इरादा हो, वह दूसरे की दाल कैसे गलने दे सकता है ? किन्तु उसके बाधा डालने के कारण क्या उसकी दाल नहीं गलेगी ? गलेगी, अवश्य गलेगी। वह उस बाधा को—वही जो दुर्गा के रूप में मूर्त्तिमान

होकर उसके मार्ग में उपस्थित है—हटा देगा, नहीं-नहीं पीस डालेगा। उसके हृदय की स्वभाविक कटुता, भयंकर रूप धारण कर, उसके अन्तर्देश में ताण्डव-नृत्य करने लगी।

किसी सुगम उपाय की खोज में वह कई दिन लगा रहा—कोई ऐसा उपाय जिससे उसका कार्य तो सिद्ध हो जाय, किन्तु जो उसके लिये हानिकर सिद्ध न हो। अन्त में एक दिन एक उपाय उसे सूझ ही गया। उसका हृदय प्रसन्नता से भर गया। उसी समय अपने कमरे में जाकर, मेज के सामने बैठ कर, बाबू सिद्धनाथ को वह एक पत्र लिखने लगा—

"महाशय,

आप शरीफ और इज्जतदार आदमी हैं। इसलिए एक बार आप को चेतावनी दे देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। आपको दुर्गा पर पूर्ण विश्वास है, किन्तु वह आपके विश्वास के योग्य नहीं है। उसकी नीयत साफ़ नहीं है। वह पूर्णिमा से प्रेम करता है। कैसे भयंकर विश्वासघात की यह बात है। जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना। पूर्णिमा अभी निरी बालिका ही है, इसलिये दुर्गा के जाल में उसका फँस जाना स्वाभाविक है। ऐसे अनुचित प्रेम का परिणाम कैसा होगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। दुर्गा जारज सन्तान है। इसका किसी को पता नहीं कि उसका पिता कौन है। ऐसा व्यक्ति क्या पूर्णिमा के योग्य है? अभी समय है। तुरन्त कार्रवाई कीजिये, नहीं तो बाद को पछताइयेगा।

आपका—

एक शुभचिन्तक।"

बाबू सिद्धनाथ के ऊपर इस पत्र का कोई असर पड़ेगा या नहीं? पड़ेगा, अवश्य पड़ेगा। किन्तु यदि उन्हें सन्देह हो गया कि यह पत्र उसका लिखा हुआ है, तब? ऐसा सन्देह उन्हें कैसे होगा? और यदि उन्हें

सन्देह हो भी जाय, तो भी इस बात का उनके ऊपर तभी असर पड़ेगा अगर पूर्णिमा के प्रति उसके व्यवहार की सूचना उन्हें मिल गई हो। यह निश्चित है कि उस मामले की उन्हें कोई खबर नहीं, क्योंकि अगर वह जानते होते तो उसके पिता से ज़रूर जिक्र करते। उसके पिता सुन पाते, तो उसे अवश्य दण्ड देते। आगा-पीछा करना फ़िजूल है। यह तीर चूक नहीं सकता, जरूर निशाने पर लगेगा!

मुस्करा कर, पत्र एक लिफाफे में रख कर, लिफाफे पर पता लिख कर, चिपका कर, टिकट लगा कर, उठ कर वह कमरे से बाहर निकला। घर से निकल कर वह लेटर-बक्स की ओर चला जो पास ही था। उसके समीप पहुँच कर, चिट्ठी डाल कर उसने सन्तोष की साँस ली।

दूसरे दिन वह गुमनाम पत्र बाबू सिद्धनाथ को मिला। उस समय वह दफ्तर में एक आरामकुरसी पर बैठे हुये समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। लिफाफा फाड़ कर, पत्र निकाल कर वह पढ़ने लगे। देखते-देखते उनके हृदय में क्रोध उमड़ने लगा। पत्र समाप्त करके, उसे हाथ में पकड़े हुये, वह कमरे में टहलने लगे। ऐसा जघन्य विश्वासघात! जिसे एक निरीह प्राणी समझ कर उन्होंने आश्रय दिया, वह ऐसा नमकहराम निकला। किन्तु देखने में तो वह बड़ा सीधा-सादा और सच्चरित्र जान पड़ता है। और वह बहादुर भी है। उस दिन वह चौकसी न करता, तो चोरी जरूर हो जाती। ऐसा नेक लड़का ऐसा खराब भी हो सकता है? किसी के पेट का हाल कौन जान सकता है? इस पत्र का लेखक कौन है? न जाने कौन है। उसकी सूचना सत्य है? सत्य भी हो सकती है, असत्य भी। जो हो, होशियारी से काम लेना चाहिये। दुर्गा को अब यहाँ रखना उचित नहीं जान पड़ता। उसे बुलाना चाहिये। मेज के

समीप जाकर उन्होंने घण्टी बजाई। तुरन्त एक सेवक ने कमरे में प्रवेश किया।

"सुक्खू, दुर्गा को बुला लाओ।"

"बहुत अच्छा, हुजूर।"

सुक्खू चला गया। पाँच मिनट के बाद दुर्गा ने कमरे में प्रवेश किया। उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देख कर उसके हाथ में पत्र देकर, बाबू साहब ने कहा—"पढ़ो इसे।"

दुर्गा पत्र पढ़ने लगा। उसका चेहरा उतर गया। जिस बात से इतने दिनों से वह लड़ता आ रहा था, उसी को लेकर ऐसा भयंकर आरोप! उसका हृदय काँप उठा। पत्र पढ़ कर सिर झुकाये हुये वह मूर्तिवत् खड़ा रहा।

"पढ़ चुके, दुर्गा?"

"जी हाँ।"

"जो इल्जाम तुम्हारे ऊपर लगाया गया है वह सत्य है, या असत्य?"

दुर्गा बड़े असमंजस में पड़ गया। इस मामले में पूर्णिमा उससे बहुत आगे बढ़ी हुई थी। इसलिए सच्ची-सच्ची बात कह देने से वह दोषी सिद्ध होगी। तब?

"बोलो। क्या कहते हो?"

"असत्य है।"

"इसका सबूत?"

"सबूत तो मैं कुछ नहीं दे सकता।"

"ऐसी हालत में क्या तुम्हारा यहाँ रहना मुनासिब है?"

"जी नहीं।"

"तब।"

"चला जाऊँगा।"

"हाँ, तुम आज ही चुपचाप चले जाओ। जितना रुपया चाहो, मैं देने को तैयार हूँ। कोई बुरी हरकत न करोगे, तो आगे भी तुम्हारी मदद करूँगा।"

"धन्यवाद!"

"कितना चाहते हो?"

"कुछ नहीं।"

"अच्छा, जाओ।"

दुर्गा तुरन्त मुड़कर कमरे से बाहर निकल गया। भोला के कमरे में आकर, अपनी दो-चार पुस्तकें, कापियाँ इत्यादि लेकर वह फाटक की ओर चला। उमड़ते हुये आँसुओं को रोकता हुआ, बिना किसी से कुछ कहे-सुने, वह उस बंगले से बाहर निकल गया। घोर अंधकार उसे चारों ओर से घेरने लगा। उसे चक्कर-सा आने लगा। किसी तरह एकान्त स्थान पर पहुँच कर जमीन पर बैठ कर वह रोने लगा, बिलख-बिलख कर रोने लगा। उसका हृदय रो रहा था, उसके शरीर का कण-कण रो रहा था। आँसू जब स्वतन्त्र गति से निकल जाते हैं, तो तबीयत हलकी हो जाती है। मनोवेदना का भार जब कुछ कम हो गया, तो वह आँखें पोंछ कर, उठ कर खड़ा हुआ और पार्क की ओर चला।

पार्क में पहुँच कर एक पेड़ के नीचे पड़ी हुई एक बेंच पर वह लेट गया। अनायास ही जिस घर से नाता जुड़ गया था, आज उसका द्वार भी उसके लिये बन्द हो गया। अब क्या करना होगा? इस संसार को उसकी आवश्यकता नहीं, यह स्पष्ट है। उसके लिये वह जारज है, ताड़ना के योग्य है, कूड़ा-कर्कट है तो क्या उसे इस संसार की आवश्य-

कता है ? नहीं, नहीं। क्या होगा ऐसे संसार में रह कर जहाँ केवल यंत्र णायें है, वेदना है, अन्याय है, निर्दयता है ? पूर्णिमा क्या सोचेगी ? पगली पूर्णिमा ! एक निरीह भिक्षुक को राज-सिंहासन पर आसीन कर देने का स्वप्न देखने वाली पूर्णिमा !

थोड़ी देर के बाद वह उठ बैठा, और एक पत्र लिखने लगा। पत्र लिख कर जेब में रख कर वह फिर लेट गया।

शाम हो गई। सैर करने वाले आने लगे। चहल-पहल शुरू हो गई। दुर्गा उठ कर, बेंच छोड़ कर तालाब की ओर चला गया। तालाब पर पहुँच कर पुस्तकें एक ओर रख कर वह बैठ गया। चारों ओर सुखद हरियाली फैली हुई थी। आकाश में सफ़ेद बादलों के टुकड़े तैर रहे थे। तालाब में मेंढक उछल-कूद में संलग्न थे। शीतल बयार बह रही थी। किन्तु वह मनोरंजक वातावरण उसके तड़पते हुये हृदय को शान्त करने में असफल सिद्ध हुआ। अँधेरा होने लगा। वह उठ कर पुजारीजी के मन्दिर की ओर चला।

जब वह वहाँ पहुँचा, पुजारीजी शौच जाने के लिये तैयार खड़े थे। आगे बढ़ कर दुर्गा ने उनके चरण छुये।

"जीते रहो, टबो। मजे में तो रहे ?"

"जी हाँ, बाबा।"

"बहुत दिनों के बाद फेरा किया।"

"जी हाँ, इधर कई दिन से आना चाहता था, लेकिन आ नहीं पाया। आज मौका मिला तो चला आया।"

"बहुत अच्छा किया। कभी-कभी जरूर आ जाया करो। मेरी तबी-यत भी लगी रहती है। वहाँ कोई तकलीफ तो नहीं है ?"

"नहीं, बाबा ।"

"आज यहीं रह जाओ, बेटा !"

"बहुत अच्छा ।"

"अच्छा, तुम बैठो । मैं जरा शौच हो आऊँ । आज देर हो गई । अभी स्नान, संध्या-वंदन, पूजन सभी कुछ करना है ।"

बारहदरी में बिछे हुये कम्बल पर दुर्गा बैठ गया । पुजारीजी चले गए ।

"दुर्गा !" दूर से बाबाजी ने पुकारा ।

"जी हाँ ।"

"सामने के कमरे में चले जाओ, उसमें जिसमें मेरा सामान रहता है । ताक पर दियासलाई है । लालटेन भी वहीं रखी है । लालटेन जला लो ।"

"बहुत अच्छा, बाबा !"

तुरन्त उठ कर वह कमरे की ओर चला ।

कमरे में पहुँच कर, टटोल कर, ताक से दियासलाई लेकर, एक सलाई जला कर, उसने देखा, एक कोने में लालटेन रखी हुई थी । उस ओर जाकर, उसने लालटेन जलाई । कमरे में रोशनी फैल गई । उसकी दृष्टि सामने की दीवार की ओर गई । उस पर एक तलवार टँगी हुई थी और एक करौली । दीवार के समीप जाकर, करौली उतार कर, उसने उसे खोल से निकाला । करौली चमक उठी । उलट-पलट कर, वह उसे ध्यान से देखने लगा । उसके होठों पर मुस्कान व्यक्त हो गई । करौली खोल में रखकर, दीवार पर टाँग कर, लालटेन लेकर, वह कमरे से बाहर निकला । बारहदरी में लालटेन एक ओर रख कर वह खोया हुआ-सा टहलने लगा ।

स्नान तथा संध्या-वंदन से निवृत होकर, मन्दिर में जाकर, पुजारी जी पूजन में निमग्न हो गये। दुर्गा बारहदरी में बैठा रहा।

"दुर्गा!" किसी ने समीप आकर कहा।

चौंक कर दुर्गा ने देखा, भोला बगल में खड़ा था।

"आओ, भोला, बैठो।"

जूते उतार कर भोला उसके समीप जा बैठा।

"बड़ी देर से तुम्हारी तलाश कर रहा था। कई जगह गया, लेकिन पता न चला। तब यहाँ आया। घर पर बगैर कुछ कहे तुम क्यों चले आये, यार?"

"बाबाजी के दर्शन करने की कई दिन से बड़ी इच्छा थी, इसलिए चला आया।"

"आना चाहते थे, तो कह कर आते?"

"हाँ यह गलती तो हुई, यार!"

"अच्छा, चलो चलें।"

"नहीं, भोला, आज यहीं रहूँगा। बाबाजी की यही इच्छा है।"

"मैं भी रहूँ?"

"नहीं, तुम घर जाओ। लोग परेशान होंगे।"

"अच्छी बात है, मैं जाता हूँ। सबेरे जरूर आ जाना।"

"अच्छा।"

भोला चला गया। दुर्गा फिर विकल विचारों में व्यस्त हो गया।...

अर्द्ध-रात्रि बीत चुकी थी। बारहदरी में दुर्गा, पुजारीजी और कई अन्य व्यक्ति लेटे हुये थे। और लोग प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थे, किन्तु

दुर्गा की आँखों को नींद न थी। इधर-उधर देख कर वह सावधानी से उठा और दबे पाँव उस कमरे की ओर चला।

उस कमरे का दरवाजा भिड़ा था, किन्तु साँकल नहीं चढ़ी थी धीरे से दरवाजा खोल कर, उसने कमरे में प्रवेश किया। सामने की दीवार के समीप जाकर, टटोल कर सावधानी से करौली उतार कर कमरे से निकल कर, धीरे से दरवाजा भेड़ कर, वह फाटक की ओर चला। एक मिनट में वह बाहर सड़क पर था। वह तेजी से भोला के घर की ओर चला। आध घंटे में वह भोला के बंगले के सामने पहुँचा। थोड़ी देर तक वह कुछ सोचता खड़ा रहा। फिर उसने बंगले में प्रवेश किया। वह आगे न बढ़ सका, फाटक के समीप ही खड़ा रह गया। उसका हृदय काँप गया। किन्तु दूसरे ही क्षण खोल से करौली निकाल कर वह दृढ़तापूर्वक सड़क पर लेट गया। करौली चमकी और उसके सीने में घुस गई!

आध घंटे के बाद बाबू सिद्धनाथ की मोटर फाटक में घुसने लगी। चौंक कर ड्राइवर ने ब्रेक लगाये। मोटर रुक गई।

"क्या बात है, राजाराम?" बाबू साहब ने पूछा।

"सड़क पर कोई पड़ा है, हुजूर!"

मोटर से उतर कर, वह शव की ओर बढ़ा।

"गजब हो गया, हुजूर! दुर्गा बाबू खून में डूबे पड़े हैं।"

तुरन्त मोटर से उतर कर बाबू साहब दौड़े।

"एँ! यह क्या हुआ? अरे, दौड़ो-दौड़ो!"

शोर मच गया। सारा घर उमड़ आया। भोला चीख-चीख कर रोने लगा। पूर्णिमा बेहोश होकर गिर पड़ी। उसे उठा कर भीतर ले जाया गया। पुलिस और डाक्टर को टेलीफोन किया गया।

पुलिस आई। डाक्टर भी आ पहुँचा। दुर्गा की कमीज की जेब में दरोगा को खून से तर एक पत्र मिला। उसमें लिखा था—

"मैं जारज हूँ। संसार में मेरे लिये स्थान नहीं है। इस संसार में अब मैं रहना नहीं चाहता। इसलिये अपनी स्वतंत्र इच्छा से आत्म-हत्या करके यह देखना चाहता हूँ कि अन्यत्र भी कहीं मेरे लिये स्थान है या नहीं।

—दुर्गादत्त।"

बाबू सिद्धनाथ तथा अन्य लोगों के बयान लिख कर और शव लेकर पुलिस चली गई।

पूर्णिमा बेहोश पड़ी थी। डाक्टर ने परीक्षा करके गम्भीर भाव से कहा—"इसका दिल डूब रहा है। प्रबल मानसिक आघात के कारण इसकी ऐसी दशा हुई है। बचने की आशा बहुत कम है।"

अन्य डाक्टर बुलाये गये। सबकी वही राय थी। कई बड़े-बड़े डाक्टर घंटों इन्जेक्शन देते रहे। किन्तु कोई लाभ न हुआ। पगली पूर्णिमा भी चल बसी—उसी की खोज में जिसे इस संसार में नहीं पा सकी!